ॐ

श्रीमद्राजानककुन्तकविरचितं

वक्रोक्तिजीवितम्

प्रथमोन्मेषः

अथ श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचिता

'वक्रोक्तिदीपिका' हिन्दीव्याख्या ।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥[1]

यस्य प्रसादमासाद्य वाचि चार्थे च वक्रता ।
स्पन्दते तमहं वन्दे नित्यानन्दं परेश्वरम् ॥

साहित्यदर्शनपरान् प्रथितान् प्रबन्धान्
व्याख्यातुमस्ति मम चेतसि काऽपि कांक्षा ॥
तामेव नित्यमनुसृत्य प्रयत्नशीलो
वक्रोक्तिजीवितमिदं विशदीकरोमि ॥

श्रीमद्राजानक कुन्तकविरचित 'वक्रोक्तिजीवितम्' नामक इस ग्रन्थ के दो भाग हैं । एक 'कारिका भाग' और दूसरा 'वृत्ति भाग' । ध्वन्यालोक आदि के समान इस ग्रन्थ में भी कारिका भाग तथा वृत्ति भाग दोनों के रचयिता स्वयं कुन्तक ही हैं । उन्होंने अपनी लिखी मूल कारिकाएँ लिखकर उन पर स्वयं ही वृत्ति भी लिखी है । 'भामह', 'वामन' आदि अलङ्कारशास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों को प्रायः 'काव्यालङ्कार' नाम से प्रसिद्ध किया है । राजानक कुन्तक ने भी उसी शैली का अवलम्बन कर अपने मूल कारिका भाग का नाम 'काव्यालङ्कार' रखा है और उसके वृत्ति भाग का नाम 'वक्रोक्तिजीवितम्' रखा है । यह अनुमान इस आधार पर किया जाता है कि इस ग्रन्थ की प्रथम कारिका की वृत्ति में उन्होंने स्वयं लिखा है—

'अस्य ग्रन्थस्यालङ्कार इत्यभिधानम्, उपमादिप्रमेयजातमभिधेयम्, उक्तरूपवैचित्र्यसिद्धिः प्रयोजनम्, इति ।

---

१. ऋग्वेद १०, १२५, ५ ।

जगत्त्रितयवैचित्र्यचित्रकर्मविधायिनम् ।
शिवं शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरणं नुमः ॥१॥

परन्तु इस ग्रन्थ का 'अलङ्कार' अथवा 'काव्यालङ्कार' नाम है यह बात वृत्ति-ग्रन्थ की इन पंक्तियों तक ही सीमित रही। साहित्यशास्त्र में कुन्तक का ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' नाम से नहीं अपितु केवल 'वक्रोक्तिजीवितम्' नाम से ही प्रसिद्ध है।

इस वृत्ति भाग का मङ्गलाचरण करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

[केवल] शक्तिमात्र [प्रकृतिमात्र] उपकरण से [वाले] तीनों लोकों के वैचित्र्य रूप चित्रकर्म की रचना करने वाले शिव को हम [ग्रन्थकार तथा उनके पाठक, व्याख्याता आदि] सब नमस्कार करते हैं ॥१॥

इस मङ्गलाचरण के प्रथम श्लोक में ग्रन्थकार ने अपने इष्टदेव शिव को जगत् त्रितय के वैचित्र्य रूप चित्रकर्म के निर्माता के रूप में स्मरण किया है। ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में उक्ति-वैचित्र्य रूप 'वक्रता' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करेंगे। इसलिए 'विदग्ध-भङ्गीभणिति' रूप 'वक्रोक्ति' के निरूपण करनेवाले ग्रन्थ के आरम्भ में 'जगत्-त्रितय-वैचित्र्य' रूप 'चित्रकर्म' के निर्माता का स्मरण सर्वथा प्रासङ्गिक तथा विषयानुरूप ही है। इसी दृष्टि से ग्रन्थकार ने इस रूप में यहाँ अपने इष्टदेव का स्मरण किया है।

लोक में तथा काव्य में दोनों ही जगह वस्तु-सौन्दर्य के विषय में प्रायः दो प्रकार के दृष्टिकोण पाए जाते हैं। कुछ लोगों को वस्तु का स्वाभाविक सौन्दर्य प्रिय होता है और किन्हीं को कृत्रिम सौन्दर्य अधिक रुचिकर प्रतीत होता है। कोई लोग उद्यान में कृत्रिम रूप से सजाकर लगाई हुई लताओं के सौन्दर्य के प्रेमी हैं तो किन्हीं को वनों में स्वाभाविक रूप से पुष्पित और पल्लवित लताओं का सौन्दर्य अधिक आकर्षक प्रतीत होता है। यही बात काव्य के विषय में भी लागू होती है। काव्य में कुछ लोग बिलकुल स्वाभाविक ढंग से कही गई बात को अधिक चमत्कारजनक मानते हैं और कुछ लोग कृत्रिम रूप से अलंकृत भाषा में वर्णन को अधिक हृदयग्राही मानते हैं। इसीलिए साहित्यशास्त्र में 'स्वभावोक्तिवादी' और 'वक्रोक्तिवादी' दो प्रकार के सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' नामक ग्रन्थ में इन दोनों प्रकारों का निरूपण करते हुए लिखा है—

भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ।
श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ॥[1]

कुन्तक, इनमें से 'वक्रोक्ति' सिद्धान्त के मानने वाले हैं। वैसे कुन्तक के पूर्व

१. काव्यादर्श, २, ३६३ ।

यथातत्त्वं विवेच्यन्ते भावास्त्रैलोक्यवर्तिनः
यदि तन्नाद्भुतं नाम दैवरक्ता हि किंशुकाः ॥२॥
स्वमनीषिकयैवाथ तत्त्वं तेषां यथारुचि ।
स्थाप्यते प्रौढ़िमात्रं तत्परमार्थो न तादृशः ॥३॥

'भामह' आदि आचार्यों ने भी 'वक्रोक्ति' को काव्य का जीवनाधायक मूल तत्त्व माना है। 'भामह' ने लिखा है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥[1]

परन्तु 'वक्रोक्ति' का जैसा वर्णन कुन्तक ने किया है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता है। इसीलिए कुन्तक इस 'वक्रोक्ति' सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। परन्तु कुन्तक के इस 'वक्रोक्ति' सिद्धान्त का विरोधी 'स्वभावोक्ति' सिद्धान्त है जो इस वैचित्र्य में विश्वास नहीं रखता है। उसका कहना है कि वस्तु का यदि यथार्थ रूप से वर्णन किया जाय तो उसमें वैचित्र्य का कोई स्थान नहीं है। उसमें जो कुछ सौन्दर्य है वह सब स्वाभाविक है। उसमें जो विचित्रता के वर्णन करने का प्रयत्न किया जाता है वह पदार्थ का वास्तविक रूप नहीं अपितु स्वबुद्धि से कल्पित होने से कृत्रिम है। इस स्वभावोक्ति पक्ष के आशय का निरूपण कुन्तक ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही करना आवश्यक समझा है। और वृत्ति ग्रन्थ के मङ्गल श्लोक के बाद दूसरे ही श्लोक में उन्होंने इस सिद्धान्त की चर्चा इस प्रकार की है—

[पूर्वपक्ष स्वभाववादी सिद्धान्त] यदि संसार के [त्रैलोक्यवर्तिनः] पदार्थों को वास्तविक रूप से [यथातत्त्वं] निरूपण किया जाय तो [आपके पूर्वोक्त मङ्गल श्लोक में कहा हुआ वैचित्र्य या] अद्भुत [नामक] कोई पदार्थ नहीं है। [किंशुक] ढाक के फूल स्वभावतः लाल [दैव रक्ताः] होते हैं। [उसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थों का सौन्दर्य] स्वाभाविक ही होता है ॥२॥

और [वक्रोक्ति के प्रेमी] यदि अपनी बुद्धि से कल्पना करके ही अपनी रुचि के अनुसार उन [पदार्थों] के स्वरूप [तत्त्व] की स्थापना करते हैं तो वह [उनका] 'प्रौढ़िवाद' मात्र [जबरदस्ती] है। वास्तविक अर्थ वैसा नहीं है। [इसलिए वैचित्र्य-वादी अथवा वक्रोक्तिवादी दृष्टिकोण यथार्थ नहीं है। स्वभाववादी दृष्टिकोण ही यथार्थ है।] ॥३॥

कुन्तक 'वक्रोक्ति' सिद्धान्त का प्रतिपादन करने जा रहे हैं। पर उनके विरोधी 'स्वभावोक्तिवादी' लोग उस वैचित्र्य सिद्धान्त अथवा वक्रोक्तिवाद को स्वमनः

---

१. भामह काव्यालङ्कार २, ८५ ।

इत्यसत्तर्कसन्दर्भे स्वतन्त्रेऽप्यकृतादरः ।
साहित्यार्थसुधासिन्धोः सारमुन्मीलयाम्यहम् ॥४॥
येन द्वितयमप्येतत् तत्त्वनिर्मितिलक्षणम् ।
तद्विदामद्भुतामोदचमत्कारं विधास्यति ॥५॥

ग्रन्थारम्भेऽभिमतदेवतानमस्कारकरणं समाचारः । तस्मात्तदेव तावदुपक्रमते—

वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम् ।
देवीं सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्वलाम् ॥१॥

कल्पित और अयथार्थ सिद्धान्त कहते हैं । इसलिए कुन्तक को सबसे पहले अपने सिद्धान्त की उपयोगिता प्रदर्शित करने की और भी आवश्यकता हो जाती है । इसीलिए ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के मङ्गलाचरण के प्रसङ्ग में ही इस विरोधी पक्ष का दो श्लोकों में अनुवाद करके पूर्वपक्ष दिखलाया है । अगले दो श्लोकों में इस पूर्वपक्ष का निराकरण और अपने वक्रोक्तिपक्ष की उपादेयता का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

[स्वभावोक्तिवादियों के] इस प्रकार के स्वतन्त्र [अहेतुक, अप्रामाणिक अथवा स्वतन्त्र, अपने शास्त्र, साहित्यशास्त्र, में स्वभावोक्तिवाद की ओर से प्रस्तुत किए जाने वाले] अनुचित तर्क सन्दर्भ की पर्वाह न करके मैं [अपने सिद्धान्त के अनुसार] साहित्यार्थ रूप सुधा के सागर [साहित्यशास्त्र] के सार [भूत वक्रोक्ति सिद्धान्त] को प्रकाशित [करने के लिए इस ग्रन्थ का निर्माण] करता हूँ ॥४॥

जिस [ग्रन्थ] से [इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय अर्थात् वक्रोक्ति रूप अभिनव] तत्त्व की स्थापना [निर्मिति] और [उसका प्रतिपादक यह लक्षण अर्थात्] ग्रन्थ दोनों ही उसको समझने वाले [सहृदय विद्वानों] को अद्भुत आनन्द [अथवा अद्भुत अर्थात् वैचित्र्य या वक्रता का आमोद अर्थात् सौन्दर्य] और चमत्कार प्रदान करेंगे ॥५॥

इस प्रकार वृत्तिकार कुन्तक अपने वृत्ति ग्रन्थ का मङ्गलाचरण करके अपने 'काव्यालङ्कार' नामक मूल कारिका ग्रन्थ की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं । और इस काव्यालङ्कार ग्रन्थ के मङ्गलाचरण श्लोक की अवतारणा करते हैं—

ग्रन्थ के आरम्भ में अभिमत देवता को नमस्कार करने की परिपाटी [समाचारः] है इसलिए सबसे पहले उसी [देवता नमस्कार रूप मङ्गलाचरण] को प्रारम्भ करते हैं ।

महाकवियों के मुखचन्द्र रूप नाट्य भवन में नर्तन करने वाली और सुभाषितों के विलास से सुन्दर अभिनय से [उज्ज्वल] मनोहारिणी [सरस्वती] देवी को मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

इति । देवीं वन्दे, देवतां स्तौमि । कामित्याह, कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्य-मन्दिरनर्तकीम् । कवीन्द्राः कविप्रवरास्तेषां वक्त्रेन्दुर्मुखचन्द्रः स एव लास्यमन्दिरं नाट्यवेश्म, तत्र नर्तकीं लासिकाम् । किं विशिष्टाम्, सूक्तिपरि-स्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम् । सूक्तिपरिस्पन्दाः सुभाषितविलसितानि तान्येव सुन्दरा अभिनयाः, सुकुमाराः सात्विकादयः, तैरुज्वलां भ्राजमानाम् । या किल सत्कविवक्त्रे लास्यवेश्मनीव नर्तकी सविलासमभिनयविशिष्टा नृत्यन्ती विरा-जते, तां वन्दे नौमि, इति वाक्यार्थः । तदिदमत्र तात्पर्यं, यत् किल प्रस्तुतं वस्तु किमपि काव्यालङ्कारकरणं, तदधिदैवतभूतां एवंविधरामणीयकहृदयहारिणीं वाग्रूपां सरस्वतीं स्तौमीति ॥१॥

एवं नमस्कृत्येदानीं वक्तव्यवस्तुविषयभूतान्यभिधानाभिधेयप्रयोजनान्यासूत्रयति-

वाचो विषयनैयत्यमुत्पादयितुमुच्यते ।
आदिवाक्येऽभिधानादि निर्मितेर्मानसूत्रवत् ॥६॥

यह [इष्टदेवता नमस्कार रूप मङ्गलाचरण किया है । वैसे १ आशीर्वाद, २ नमस्कार और वस्तु निर्देश रूप तीन प्रकार की मङ्गलाचरण की शैलियाँ पाई जाती हैं ।] 'देवीं वन्दे' का अर्थ देवता की स्तुति करता हूँ, यह है । किस [देवी] की [वन्दना करते हैं] यह बतलाते हैं । कविराजों के मुखचन्द्र रूप नाट्य मन्दिर की नर्तकी की । कवीन्द्र अर्थात् कविप्रवर [कविराज, महाकवि] उनका वक्त्रेन्दु अर्थात् मुखचन्द्र । वही लास्यमन्दिर अर्थात् नाट्य भवन, उसमें नाचनेवाली अर्थात् लास्य करनेवाली । कैसी [किंविशिष्टां देवीं] को [वन्दना करता हूँ, यह कहते हैं] सूक्ति-परिस्पन्द रूप सुन्दर अभिनयों से उज्ज्वला को । सूक्तिपरिस्पन्द अर्थात् सुभाषितों का विलास, वही है सुन्दर अभिनय, अर्थात् सुकुमार सात्विकादि भाव, उनसे उज्ज्वला अर्थात् प्रकाशमान । जो नाट्य भवन में हावभाव-युक्त, अभिनयसहित, नर्तकी के समान सत्कवियों के मुख में विराजती है उस [सरस्वती देवी] को नमस्कार करता हूँ । यह [इस मङ्गल] वाक्य का अर्थ है । इसका तात्पर्य यह है कि जो प्रस्तुत वस्तु [वक्रोक्ति] वाक्य शोभा का आधायक अपूर्व [किमपि] साधन है उसकी अधिष्ठात्री देवता और इस प्रकार के [अपूर्व] सौन्दर्य से हृदय को हरण करनेवाली वाणी रूप सरस्वती [देवी] की स्तुति करता हूँ ॥१॥

इस प्रकार [इष्टदेवता को] नमस्कार करके अब [ग्रन्थ के] प्रतिपाद्य वस्तु के विषयभूत नाम, [प्रतिपाद्य] विषय और प्रयोजन [आदि रूप अनुबन्ध चतुष्टय] को [अगली दूसरी कारिका में वर्णन करते हुए] लिखते हैं—

वाणी के विषय को निश्चित करने [विषय से सम्बद्ध बात ही ग्रन्थ में

इत्यन्तरश्लोकः ॥१॥

लिखी जाय; इस दृष्टि से विषय का निर्धारण करने] के लिए [मङ्गलाचरण श्लोक के बाद] आदि श्लोक [अर्थात् द्वितीय कारिका] में, रचना [भवन आदि के निर्माण] के मानसूत्र [भवन निर्माण के आरम्भ में जैसे डोरी डालकर जमीन पर लकीर खींच दी जाती है ताकि नींव खोदने वाले उनके अनुसार ही नींव खोदें। उस] के समान [अपने विषय को नियत करने के लिए हम अपने ग्रन्थ के आरम्भ में] नाम आदि [विषय प्रयोजन, अधिकारी तथा सम्बन्ध रूप अनुबन्ध चतुष्टय] को कहते हैं ॥६॥

यह बीच का श्लोक है ॥१॥

कुन्तक ने इस ग्रन्थ की रचना करते समय सबसे पहले मूल ग्रन्थ को कारिका रूप में लिखा था और उसका नाम 'काव्यालङ्कार' रखा था। जैसे कि, इसी कारिका में ग्रन्थ के अभिधान आदि को कहने की प्रतिज्ञा करके 'काव्यस्यायमलङ्कारः विधीयते' लिखकर उसके नाम की सूचना दी है। और उसकी वृत्ति में भी 'ग्रन्थस्यास्य अलङ्कार इत्यभिधानम्' लिख अपने ग्रन्थ का 'काव्यालङ्कार' अथवा 'अलङ्कार' यह नाम सूचित किया है। कुन्तक के मूल ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' अथवा 'अलङ्कार' है; यह बात यद्यपि कुन्तक ने स्वयं अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिख दी है। परन्तु उसकी ओर ध्यान नहीं दिया गया। सभी लोग कुन्तक के ग्रन्थ को 'वक्रोक्तिजीवितम्' नाम से कहते हैं। यह 'वक्रोक्तिजीवितम्' वस्तुतः 'काव्यालङ्कार' की व्याख्या या वृत्ति ग्रन्थ है। परन्तु मूल 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ अलग नहीं मिलता है। 'वक्रोक्तिजीवितम्' नामक वृत्ति ग्रन्थ के साथ ही मिलता है इसलिए 'काव्यालङ्कार' नाम प्रचलित नहीं हुआ। वक्रोक्तिजीवितम् नाम ही प्रसिद्ध हुआ।

कुन्तक ने पहले मूल कारिकाएँ लिखी थीं। उसके बाद जब उनकी व्याख्या लिखनी प्रारम्भ की तो स्थल-स्थल पर उन्होंने संग्रह रूप कुछ अन्य श्लोकों की रचना भी की थी; ऐसे श्लोकों को उन्होंने अपने वृत्ति ग्रन्थ में 'अन्तरश्लोक' कहकर उद्धृत किया है। जैसे इसी 'वाचो विषयनैयत्यमुत्पादयितुमुच्यते' इत्यादि श्लोक को 'अन्तरश्लोक' बीच का श्लोक कहा है। अर्थात् वह कारिका के समान महत्त्व का नहीं है परन्तु वृत्ति ग्रन्थ से अधिक महत्त्व का है। इसलिए 'अन्तरश्लोक' है। कहीं इस प्रकार के दो श्लोक और दो से अधिक श्लोक भी लिखे हैं। उनको 'इत्यन्तरश्लोकौ' या 'इत्यन्तर-श्लोकाः' शब्दों से यथास्थान उद्धृत किया है। 'काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति' के निर्माता वामन ने भी इस प्रकार के श्लोक स्थल-स्थल पर लिखे हैं। और ध्वन्यालोककार आनन्द-वर्धनाचार्य ने भी इस शैली का अवलम्बन किया है। कुन्तक ने इस प्रकार के श्लोकों को 'अन्तरश्लोक' नाम दिया है और आनन्दवर्धनाचार्य ने उनको 'संग्रह' श्लोक तथा वामन ने केवल 'श्लोकः' नाम से उद्धृत किया है।

लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये ।
काव्यास्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥२॥

अलङ्कारो विधीयते अलङ्करणं क्रियते। कस्य काव्यस्य। कवेः कर्म काव्यं, तस्य। ननु च सन्ति चिरन्तनास्तदलङ्कारास्तत् किमर्थमित्याह, अपूर्वः तद्व्यतिरिक्तार्थाभिधायी।

तदपूर्वत्वं तदुत्कृष्टस्य तन्निकृष्टस्य च द्वयोरपि सम्भवतीत्याह कोऽपि, अलौकिकः सातिशयः। सोऽपि किमर्थमित्याह लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये, असामान्याह्लादविधायिविचित्रभावसम्पत्तये। यद्यपि सन्ति शतशः काव्यालङ्कारास्तथापि न कुतश्चिदप्येवंविधवैचित्र्यसिद्धिः।

लोकोत्तर चमत्कारकारी वैचित्र्य की सिद्धि के लिए यह कुछ [सर्वोत्कृष्ट] अपूर्व काव्य के अलङ्कार [काव्यालङ्कार] की रचना की जा रही है ॥२॥

इसके पहले भी भामह, वामन और रुद्रट आदि अनेक आचार्यों ने काव्यालङ्कार नाम से अपने ग्रन्थों की रचना की है। और उसमें काव्य के अलङ्कारों का निरूपण किया है। परन्तु हम अपने इस 'काव्यालङ्कार' में वक्रता रूप जिस काव्य के अलङ्कार का निरूपण करने जा रहे हैं, उसका निरूपण आज तक किसी ने नहीं किया है, इसलिए वह अपूर्व है। काव्य का अतिशय सौन्दर्याधायक होने से वह 'वक्रता' कुछ लोकोत्तर अपूर्व तत्त्व है। इस बात को ग्रन्थकार ने 'कोऽप्यपूर्वः' शब्दों से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है।

'अलङ्कारो विधीयते' का अर्थ अलङ्कार की रचना की जाती है। किसके, काव्य के। कवि का कर्म [रचना] काव्य है उस [काव्य] के [अलङ्कार की रचना की जाती है।] [प्रश्न—भामह, वामन, रुद्रट आदि प्रणीत] बहुत से प्राचीन उस [काव्य] के अलङ्कार ['काव्यालङ्कार'] विद्यमान हैं फिर [आप यह प्रयत्न] किसलिए [कर रहे हैं इस प्रश्न के उत्तर रूप] यह कहते हैं। अपूर्वः, उन [काव्यालङ्कार ग्रन्थों] से भिन्न [वक्रता रूप नवीन तत्त्व] अर्थ का प्रतिपादक [होने से हमारा यह प्रयत्न केवल पिष्टपेषणमात्र नहीं है अपितु वस्तुतः अपूर्व] है।

[प्रश्न] वह अपूर्वत्व तो उन [प्राचीन काव्यालङ्कारों] से उत्कृष्ट और निकृष्ट दोनों का ही हो सकता है। [तो आपका यह नया प्रयास प्राचीन आचार्यों से उत्कृष्ट तो हो ही नहीं सकता है, फिर इस रद्दी निकृष्ट नये ग्रन्थ को लिखने से क्या लाभ ?] इस [शङ्का के समाधान] के लिए यह कहते हैं—कोऽपि अर्थात् लोकोत्तर, अतिशययुक्त [हमारा प्रयत्न है। निकृष्ट नहीं]। वह [अपूर्व प्रयत्न या ग्रन्थ] भी किस [प्रयोजन के] लिए [रच रहे हैं] यह कहते हैं। लोकोत्तर

अलङ्कारशब्दः शरीरस्य शोभातिशयकारित्वान्मुख्यतया कटकादिषु वर्तते। तत्कारित्वसामान्यादुपचारादुपमादिषु। तद्वदेव च तत्सदृशेषु गुणादिषु। तथैव च तदभिधायिनी ग्रन्थे। शब्दार्थयोरेकयोगक्षेमत्वादैक्येन व्यवहारः। यथा गौरिति शब्दः गौरित्यर्थ इति।

तदयमर्थः। ग्रन्थस्यास्य अलङ्कार इत्यभिधानम्, उपमादिप्रमेयजातमभिधेयम्, उक्तरूपवैचित्र्यसिद्धिः प्रयोजनमिति ॥२॥

एवमलङ्कारस्य प्रयोजनमस्तीति स्थापितेऽपि तदलङ्कार्यस्य काव्यस्य प्रयोजनं विना, तदपि सदपार्थकमित्याह—

चमत्कारकारी वैचित्र्य की सिद्धि के लिए। अर्थात् [काव्य में] असाधारण आह्लाददायक सौन्दर्य [वैचित्र्यभाव] के सम्पादन के लिए। यद्यपि बहुत से 'काव्यालङ्कार' विद्यमान हैं परन्तु [उनमें से] किसी से भी इस प्रकार के [लोकोत्तर] वैचित्र्य [काव्यसौन्दर्य] की सिद्धि नहीं हो सकती है।

अलङ्कार शब्द शरीर के शोभातिशयजनक होने से मुख्यतया कटक [कुण्डल] आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। और [काव्य में] उस [शोभा] के जनकत्व की समानता से [सादृश्यमूलक लक्षणा रूप] गौणीवृत्ति [उपचार] से उपमा आदि [काव्य के अलङ्कारों] में, और उसी प्रकार [उपचार से] उन [अलङ्कारों] के सदृश [काव्यशोभाजनक] गुण [तथा वामनाभिप्रेत रीति] आदि में, और उसी प्रकार उपचार से उन [गुण, रीति, अलङ्कार आदि] के प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ [के अर्थ] में [अलङ्कार शब्द का प्रयोग होता] है। शब्द और अर्थ के तुल्य योग क्षेम [अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः, प्राप्तस्य परिरक्षणं क्षेमः] वाला होने से [शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार दोनों के लिए] एकरूप से [अलङ्कार शब्द का] व्यवहार होता है। जैसे गौ यह शब्द [के लिए] और 'गौ' यह अर्थ [के लिए, दोनों के लिए गौः इस एक ही शब्द का व्यवहार होता है। इसी प्रकार शब्द और अर्थ दोनों के शोभाधायक धर्मों के लिए 'अलङ्कार' इस सामान्य शब्द का प्रयोग होता] है।

इसलिए [संक्षेप में इस कारिका का] यह अभिप्राय हुआ कि इस [वक्रोक्तिजीवितम् के मूल कारिका का रूप] ग्रन्थ का 'अलङ्कार' [अथवा 'काव्यालङ्कार'] यह नाम है। उपमा आदि प्रमेय समुदाय इसका अभिधेय [प्रतिपाद्य विषय] है और पूर्व प्रतिपादित [लोकोत्तरचमत्कारी] वैचित्र्य [काव्य सौन्दर्य] की सिद्धि [इस ग्रन्थ का] प्रयोजन है ॥२॥

इस प्रकार [आपके इस काव्यालङ्कार नामक] अलङ्कार [ग्रन्थ] का प्रयोजन है [उसकी रचना व्यर्थ नहीं है] यह निश्चित हो जाने पर भी, उस

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः ।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥३॥

हृदयाह्लादकारकश्चित्तानन्दजनकः काव्यबन्धः, सर्गबन्धादिर्भवतीति सम्बन्धः । कस्येत्याकांक्षायामाह, अभिजातानाम् । अभिजाताः खलु राजपुत्रादयो धर्माद्युपेयार्थिनो विजिगीषवः क्लेशभीरवश्च, सुकुमाराशयत्वात्तेषाम् । तथा सत्यपि तदाह्लादकत्वे काव्यबन्धस्य, क्रीडनकादिप्रख्यता प्राप्नोतीत्याह, धर्मादिसाधनोपायः । धर्मादेरुपेयभूतस्य चतुर्वर्गस्य साधने सम्पादने तदुपदेशरूपत्वादुपायस्तत्प्राप्तिनिमित्तम् ।

तथापि तथाविधपुरुषार्थोपदेशपरैरपरैरपि शास्त्रैः किमपराद्धमित्यभिधीयते, सुकुमारक्रमोदितः । सुकुमारः सुन्दरः सहृदयहृदयहारी

[काव्यालङ्कार] के अलङ्कार्य [रूप मुख्य] काव्य के प्रयोजन [के अस्तित्व तथा प्रतिपादन] के बिना [काव्यालङ्कार का प्रयोजन] होने पर भी वह [काव्यालङ्कार का निर्माण] व्यर्थ है । इसलिए [अपने 'काव्यालङ्कार' की सार्थकता के निर्वाह के लिए आवश्यक काव्य के प्रयोजन को, अगली ३, ४, ५ इन तीन कारिकाओं में] कहते हैं ।

काव्यबन्ध उच्चकुल में समुत्पन्न [परिश्रमहीन और मन्दबुद्धि राजकुमार आदि] के हृदयों को आह्लादित करनेवाला और कोमल मृदु शैली से कहा हुआ धर्मादि की सिद्धि का मार्ग है । [इसलिए अत्यन्त उपादेय है] ॥३॥

हृदयाह्लादकारक अर्थात् चित्त को आनन्द देनेवाला । काव्यबन्ध अर्थात् सर्गबन्ध [महाकाव्य, मुक्तक] आदि होता है यह [मुख्य वाक्य का 'भवति' इस क्रिया के साथ] सम्बन्ध है । किसका [हृदयाह्लादकारक होता है] इसकी जिज्ञासा होने पर [समाधानार्थ] कहते हैं—अभिजातानाम् अर्थात् उच्चकुलोत्पन्नों के [हृदय का आह्लादकारक होता है] । उच्चकुल में उत्पन्न होनेवाले राजपुत्र आदि, धर्मादि [रूप] प्राप्य [पुरुषार्थ चतुष्टय] के इच्छुक, विजय की इच्छा रखनेवाले [किन्तु क्लेश] परिश्रम से डरनेवाले होते हैं । उनके सुकुमार स्वभाव होने से । [उनका परिश्रम से डरना स्वाभाविक है] इस प्रकार उन [राजपुत्रादि] के हृदय को प्रसन्न करनेवाला होने पर काव्यबन्ध को खिलौने की समानता प्राप्त होती है । इसलिए कहते हैं [कि काव्य केवल खिलौनों के समान मनोरञ्जक ही नहीं है अपितु] धर्मादि [पुरुषार्थ चतुष्टय] की प्राप्ति का उपाय [भी] है । प्राप्तव्य [उद्देश्यभूत] धर्मादि रूप चतुर्वर्ग के साधन अर्थात् सम्पादन में उसका उपदेश रूप [बतलाने वाला] होने से उपाय अर्थात् उसकी प्राप्ति का निमित्त होता है ।

तो भी उस प्रकार के [प्राप्तव्य] पुरुषार्थ का उपदेश करनेवाले अन्य शास्त्रों

क्रमः परिपाटीविन्यासस्तेनोदितः कथितः सन् । अभिजातानामाह्लादकत्वे सति प्रवर्तकत्वात् काव्यबन्धो धर्मादिप्राप्त्युपायतां प्रतिपद्यते । शास्त्रेषु पुनः कठोरक्रमाभिहितत्वाद् धर्माद्युपदेशो दुरवगाहः । तथाविधे विषये विद्यमानोऽप्यकिञ्चित्कर एव ।

राजपुत्राः खलु समासादितविभवाः समस्तजगतीव्यवस्थाकारितां प्रतिपद्यमानाः श्लाघ्योपायोपदेशशून्यतया स्वतन्त्राः सन्तः समुचितसकलव्यवहारोच्छेदं प्रवर्तयितुं प्रभवन्तीत्येतदर्थमेतद्व्युत्पत्तये व्यतीतसच्चरितराजचरितं तन्निदर्शनाय निबध्नन्ति कवयः । तदेवं शास्त्रातिरिक्तं प्रगुणमस्त्येव प्रयोजनं काव्यबन्धस्य ॥३॥

मुख्यं पुरुषार्थसिद्धिलक्षणं प्रयोजनमास्तां तावत्, अन्यदपि लोकयात्राप्रवर्तननिमित्तं भृत्यसुहृत्स्वाम्यादिसमावर्जनमनेन विना न सम्भवतीत्याह—

ने क्या अपराध किया है [कि आप उनको छोड़कर काव्य के लिए यह प्रयत्न कर रहे हैं।] इस [शङ्का के निवारण] के लिए कहते हैं—सुकुमार क्रम से कहा हुआ [साधन] है। सुकुमार अर्थात् सुन्दर सहृदयों के हृदय को हरण करनेवाला जो क्रम अर्थात् रचना-शैली उस सरल शैली से कहा हुआ [साधन] है। अभिजातों [उच्चकुलोत्पन्न राजपुत्र आदि] के आह्लादक होने पर [सत्कार्यों में] प्रवर्तक होने से काव्यबन्ध धर्मादि की प्राप्ति का उपाय हो जाता है। और शास्त्रों में कठिन शैली से कहा होने के कारण धर्मादि का उपदेश मुश्किल से समझ में आता है। इसलिए उस प्रकार के ['सुकुमार-मति' और परिश्रमहीन राजपुत्रादि के] विषय में [राजपुत्रादि के लिए] वह [धर्मादि का उपदेश, शास्त्रादि में] विद्यमान होने पर भी [उनकी समझ में न आने से] व्यर्थ ही रहता है।

[काव्य के प्रयोजन के प्रतिपादन में आपने अभिजात राजपुत्रादि का ही ध्यान क्यों रखा है, सामान्य पाठक का निर्देश क्यों नहीं किया इसके लिए कहते हैं] राजपुत्र आदि [वयस्क होकर यथासमय पैतृक] वैभव को प्राप्त करके समस्त [राज्य] पृथ्वी के व्यवस्थापक बनकर उत्तम उपदेश से शून्य होने के कारण स्वतन्त्र होकर समस्त उचित लोकव्यवहार का नाश करने में समर्थ हो सकते हैं, इसलिए उनके [औचित्य या कर्तव्याकर्तव्य के] परिज्ञान के लिए, कवि; अतीत सच्चरित्र [रामचन्द्र आदि] राजाओं के चरित्र को [काव्य रूप में] लिखते हैं। इसलिए शास्त्र से अतिरिक्त काव्य का [और भी अधिक] महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है ही। [जिसके कारण काव्य विशेष रूप से उपादेय है।] ॥३॥

इस पुरुषार्थ सिद्धि [अर्थात् चतुर्वर्गफलप्राप्ति और राजपुत्रादि की उपदेशसिद्धि] रूप [प्रयोजन] को रहने भी दें [छोड़ दें,] किन्तु लोकयात्रा [लोकव्यवहार] के सञ्चालन के लिए भृत्य, मित्र, स्वामी आदि का आकर्षण आदि अन्य

व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः ।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥४॥

व्यवहारो लोकवृत्तं, तस्य परिस्पन्दो व्यापारः क्रियाक्रमलक्षणस्तस्य सौन्दर्यं रामणीयकं तद्, व्यवहारिभि-र्व्यवहर्तृभिः, सत्काव्याधिगमादेव कमनीयकाव्यपरिज्ञानादेव नान्यस्माद्, आप्यते लभ्यते, इत्यर्थः । कीदृशं तत्सौन्दर्यं नूतनौचित्यम् । नूतनमभिनवलौकिकमौचित्यमुचितभावो यस्य । तदिदमुक्तं भवति, महतां हि राजादीनां व्यवहारे वर्ण्यमाने तदङ्गभूताः सर्वे मुख्यामात्यप्रभृतयः समुचितप्रातिस्विककर्तव्यव्यवहारनिपुणतया निबध्यमानाः सकलव्यवहारिवृत्तोपदेशतामापद्यन्ते ततः सर्वःकश्चित् कमनीयकाव्ये कृतश्रमः समासादितव्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यातिशयः श्लाघनीयफलभाग् भवतीति ॥४॥

योऽसौ चतुर्वर्गलक्षणः पुरुषार्थस्तदुपार्जनविषयव्युत्पत्तिकारणतया

[कार्य] भी इस [काव्य] के बिना भली प्रकार सम्भव नहीं हो सकते हैं। यह [बात अगली कारिका में] कहते हैं।

व्यवहार करनेवाले [लौकिक] पुरुषों को अनुदिन के नूतन औचित्य से युक्त; व्यवहार, चेष्टा आदि का सौन्दर्य; सत्काव्य के परिज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है [इसलिए भी काव्य उपादेय है] । ॥४॥

व्यवहार अर्थात् लोकाचार, उसका परिस्पन्द अर्थात् क्रियाओं के क्रम रूप में व्यापार, उसका सौन्दर्य अर्थात् रमणीयता । वह [लोकाचार के अनुष्ठान का सौन्दर्य] व्यवहार करनेवाले [सामान्य लौकिक] जनों को उत्तम काव्यों के परिज्ञान से ही होता है । अन्य [किसी साधन] से प्राप्त नहीं हो सकता है। यह अभिप्राय है। वह सौन्दर्य कैसा है कि, नूतन औचित्य-युक्त । नूतन अर्थात् अपूर्व अलौकिक औचित्य अर्थात् उचितत्व जिसका है । [ऐसा लोकव्यवहार का सौन्दर्य काव्य से ही प्राप्त हो सकता है अन्य प्रकार से नहीं] इसका यह अभिप्राय हुआ कि [उत्तम काव्यों में] राजा आदि के व्यवहार का वर्णन करने पर उनके अङ्गभूत प्रधान मन्त्री आदि सब ही के अपने-अपने [प्रातिस्विक] उचित कर्तव्य और व्यवहार में निपुण रूप में ही [काव्य में] वर्णित होने से [उसके पढ़ने वाले] व्यवहार करने वाले समस्त जनों को [उनके उचित] व्यवहार की शिक्षा देने वाले होते हैं। इसलिए सुन्दर काव्यों में परिश्रम करनेवाला [सर्वः कश्चित् सब कोई] प्रत्येक व्यक्ति लोकव्यवहार की क्रियाओं में सौन्दर्य को प्राप्त कर श्लाघनीय फल का पात्र होता है ॥४॥

और [तीसरी कारिका में] जो इस चतुर्वर्ग रूप पुरुषार्थ [धर्मादि] को, उस

काव्यस्य पारम्पर्येण प्रयोजनमित्याम्नातः, सोऽपि समयान्तरभावितया तदुपभोगस्य तत्फलभूताह्लादकारित्वेन तत्कालमेव पर्यवस्यति । अतस्तदतिरिक्तं किमपि सहृदयहृदयसंवादसुभगं तदात्वरमणीयं प्रयोजनान्तरमभिधातुमाह ।

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥५॥

चमत्कारो वितन्यते चमत्कृतिर्विस्तार्यते, ह्लादः पुनः पुनः क्रियत इत्यर्थः । केन, काव्यामृतरसेन । काव्यमेवामृतं तस्य रसस्तदास्वादस्तदनुभवस्तेन । क्वेत्यभिदधाति, अन्तश्चेतसि । कस्य, तद्विदाम् । तं विदन्ति जानन्तीति तद्विदस्तज्ज्ञास्तेषाम् । कथम्, चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य । चतुर्वर्गस्य धर्मादेः फलं तदुपभोगस्तस्यास्वादस्तदनुभवस्तमपि प्रसिद्धातिशयमतिक्रम्य विजित्य पस्पशप्रायं सम्पाद्य ।

[धर्मादि] के उपार्जन के विषय में व्युत्पत्ति कराने वाला होने से, काव्य का परम्परा से प्रयोजन बतलाया है, वह [धर्मादि का फल काव्य के अध्ययनकाल में नहीं अपितु समयान्तर में होता है इसलिए] भी उसके फलभोग के कालान्तरभावी होने से, उसके फलभूत अह्लाद के जनक होने से उस [समयान्तररूप] काल में ही परिणत होता है । [अध्ययनकाल में उससे कोई लाभ नहीं है] इसलिए उससे भिन्न सहृदयों के हृदय के अनुरूप सुन्दर और उसी [अध्ययन समय में ही] काल में रमणीय दूसरा प्रयोजन बतलाने के लिए [अगली कारिका]कहते हैं—

काव्यामृत का रस उस [काव्य] को समझने वालों [सहृदयों] के अन्तःकरण में चतुर्वर्ग रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार को उत्पन्न करता है । ॥५॥

'चमत्कारो वितन्यते' का अर्थ अलौकिक आनन्द [चमत्कृति] का सञ्चार किया जाता है, यह है । बार-बार आनन्द की अनुभूति कराता है यह अभिप्राय है । किससे [यह आनन्दानुभूति होती है] काव्यामृतरस से । काव्य ही [मानों] अमृत है, उस का रस अर्थात् उसका आस्वाद, उसका अनुभव, उससे । कहाँ [वह अनुभूति होती है] यह कहते हैं । अन्तः अर्थात् चित्त में । किसके [चित्त में] उस [काव्य] को समझनेवालों के । उस [काव्य] को जो जानते हैं वह तद्वित् [काव्यज्ञ] हुए, उनके [हृदय में चमत्कार उत्पन्न करता है] । कैसे, कि चतुर्वर्ग रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर । चतुर्वर्ग धर्मादि का फल अर्थात् उसका उपभोग, उसका आस्वाद अर्थात् उसका अनुभव, प्रसिद्ध महत्त्व वाले उस [चतुर्वर्ग रूप फल] को भी अतिक्रमण करके, जीत करके

तदयमभिप्रायः । योऽसौ चतुर्वर्गफलास्वादः प्रकृष्टपुरुषार्थतया सर्वशास्त्रप्रयोजनत्वेन प्रसिद्धः, सोऽप्यस्य काव्यामृतचर्वणचमत्कारकलामात्रस्य न कामपि साम्यकलनां कर्तुमर्हतीति । दुःश्रव-दुर्भण-दुरधिगमत्वादिदोषदुष्टोऽध्ययनावसर एव सुदुःसहदुःखदायी शास्त्रसन्दर्भस्तत्कालकल्पितकमनीयचमत्कृतेः काव्यस्य न कथञ्चिदपि स्पर्धामधिरोहतीत्येतदप्यर्थतोऽभिहितं भवति ।

कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम् ।
आह्लाद्यमृतवत् काव्यमविवेकगदापहम् ॥७॥

भूमिका [सदृश] बनाकर [अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न करता है] ।

ग्रन्थकार ने यहाँ 'पस्पश' शब्द का प्रयोग किया है। व्याकरण महाभाष्य का प्रथम आह्निक 'पस्पशाह्निक' नाम से प्रसिद्ध है। उसमें व्याकरण के प्रयोजन आदि प्रारम्भिक बातों का वर्णन है। मुख्य और अधिक महत्त्वपूर्ण विषय का निरूपण आगे के आह्निकों में किया गया है। इसी प्रकार काव्य से धर्मादि की शिक्षा अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य का परिज्ञान उसका मुख्य फल नहीं गौण फल है। मुख्य फल तो आनन्दानुभूति है। इसी बात को सूचित करने के लिए ग्रन्थकार ने यहाँ 'पस्पशप्रायं सम्पाद्य' इस शब्द का प्रयोग किया है । वैसे 'भूमिका' अर्थ में 'पस्पश' शब्द प्रचलित नहीं है ।

इसका यह अभिप्राय हुआ कि जो चतुर्वर्ग फल का आस्वाद [अर्थात् पुरुषार्थ चतुष्टय], प्रकृष्ट पुरुषार्थ होने से सब शास्त्रों के प्रयोजन रूप में प्रसिद्ध है, वह भी इस काव्यामृत रस की चर्वणा के चमत्कार की कलामात्र के साथ भी किसी प्रकार की तनिक भी बराबरी नहीं कर सकता है। सुनने में कटु, बोलने में कठिन, और समझने में मुश्किल आदि [अनेक] दोषों से दुष्ट और पढ़ने के समय में ही अत्यन्त दुःखदायी, शास्त्र सन्दर्भ, पढ़ने के साथ [तत्काल] ही सुन्दर, चमत्कार [आनन्दानुभूति] को उत्पन्न करने वाले काव्य की बराबरी [स्पर्धा] किसी प्रकार भी नहीं कर सकता है। यह बात भी अर्थापत्ति से [कथित होती है] निकलती है ।

इसी बात को दिखलाने के लिए काव्य और शास्त्र की तुलना निम्नलिखित दो श्लोकों में की गई है ।

शास्त्र कड़वी औषधि के समान [दुःखजनक होता हुआ] अविद्यारूप व्याधि का नाश करता है। और काव्य आनन्ददायक [सुस्वादु] अमृत के समान [आनन्ददायक होता हुआ] अज्ञानरूप रोग का नाश करता है ॥७॥

आयत्याञ्च तदात्वे च रसनिःस्यन्दसुन्दरम् ।
येन सम्पद्यते काव्यं तदिदानीं विचार्यते ॥८॥[1]

इत्यन्तरश्लोकौ ॥५॥

जिसके द्वारा काव्य उस समय [अध्ययनकाल में] और पीछे [परिणामरूप में दोनों समय] रस के प्रवाह से सुन्दर बनता है, अब [अगले ग्रन्थ भाग में] उसका विचार [प्रारम्भ] करते हैं ॥८॥

यह दोनों 'अन्तरश्लोक' हैं ।

इन पिछली तीन कारिकाओं में कुन्तक ने काव्य के प्रयोजनों का निरूपण किया है। इनमें मुख्यतः (१) राजपुत्रादि को कर्तव्याकर्तव्यरूप धर्मादि की शिक्षा, (२) राजा, अमात्य, सेनापति, सुहृद्, स्वामी, भृत्य आदि को उनके उचित व्यवहार की शिक्षा, और (३) लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति यह तीन प्रकार के काव्य के फल बतलाए हैं। यह तीनों फल काव्य का अध्ययन करनेवालों की दृष्टि से लिखे गये हैं। काव्य के निर्माता कवि की दृष्टि से कोई फल नहीं कहा गया है। 'कुन्तक' से पहिले 'भामह' आदि आचार्यों ने काव्य-निर्माता कवि की दृष्टि से कीर्ति आदि को भी काव्य-फल माना है। भामह ने काव्य फलों का निरूपण करते हुए लिखा है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिञ्च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥[2]

इसमें भामह ने 'साधुकाव्यनिबन्धनम्' अर्थात् उत्तम काव्य 'रचना' के फल दिखलाए हैं। वह रचना के फल मुख्यतः काव्य-रचना करनेवाले कवि की दृष्टि से ही हो सकते हैं पाठक की दृष्टि से नहीं। परन्तु कीर्ति को छोड़कर शेष सब फल कवि के समान पाठक को भी प्राप्त हो सकते हैं। इसीलिए जहाँ विश्वनाथ आदि नवीन आचार्यों ने भामह के इस श्लोक को उद्धृत किया है वहाँ 'साधुकाव्य निबन्धनम्' के स्थान पर 'साधुकाव्यनिषेवणम्' पाठ रखा है ।

वामन ने काव्य के प्रयोजनों का निरूपण करते हुए लिखा है—

काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ।[3]

अर्थात् कवि की दृष्टि से कीर्ति और पाठक की दृष्टि से प्रीति यह दो ही काव्य के मुख्य प्रयोजन हैं। अर्थात् वामन की दृष्टि में लोकव्यवहार की शिक्षा काव्य

---

१. वामन काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति की कामधेनु टीका के पृ० ६ पर उद्धृत है ।

२. भामह, काव्यालङ्कार, १, २ ।

३. काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति १, १, ५ ।

अलंकृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता ॥६॥

अलंकृतिलङ्करणम् । अलंक्रियते ययेति विगृह्य । सा विवेच्यते विचार्यते । यच्चालङ्कार्यमलङ्करणीयं वाचकरूपं वाच्यरूपञ्च तदपि विवेच्यते । तयोः सामान्यविशेषलक्षणद्वारेण स्वरूपनिरूपणं क्रियते । कथम्, अपोद्धृत्य । निकृष्य, पृथक् पृथगवस्थाप्य, यत्र समुदायरूपे तयोरन्तर्भावस्तस्माद्विभज्य ।

का मुख्य प्रयोजन नहीं है। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इन सबका समन्वय करते हुए लिखा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्य : परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥[1]

इसमें काव्य के ६ फल बतलाए हैं। उनमें से (१) यशसे, (२) अर्थकृते, तथा (३) शिवेतरक्षतये; यह तीन प्रयोजन मुख्यतः कवि से सम्बद्ध हैं और (१) व्यवहारविदे, (२) सद्यः परनिर्वृतये और (३) कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे, यह तीन प्रयोजन मुख्यतः पाठक की दृष्टि से रखे गये हैं। कवि की दृष्टि से सबसे मुख्य फल यश की प्राप्ति, दूसरा अर्थ की प्राप्ति, और तीसरा शिवेतर अर्थात् अशिव अकल्याण की निवृत्ति है। पाठक की दृष्टि से सबसे मुख्य फल सद्यःपरनिर्वृति अर्थात्, परमानन्द की प्राप्ति है। जिसे यहाँ कुन्तक ने 'अन्तश्चमत्कार' कहा है ॥५॥

[उपमादि] अलङ्कार और [उसके] अलङ्कार्य [शब्द तथा अर्थ] को अलग-अलग करके उनकी विवेचना उस [काव्य की व्युत्पत्ति] का उपाय होने से [ही] की जाती है। [वास्तव में तो] अलङ्कारसहित [शब्द और अर्थ, अर्थात् तीनों की समष्टि] काव्य है। [अतः तीनों का अलग-अलग विवेचन उचित नहीं है। फिर भी उस अलग-अलग विवेचन से काव्य-सौन्दर्य को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होती है इसलिए उनको अलग-अलग करके विवेचन करने की शैली अलङ्कार-ग्रन्थों में पाई जाती है] ॥६॥

अलंकृति का अर्थ अलङ्कार है। जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय [उसको अलङ्कार कहते हैं] इस प्रकार का विग्रह करने से [अलंकृति शब्द अलङ्कार के लिए प्रयुक्त होता है] उसका [काव्यालङ्कार ग्रन्थों में] विवेचन अर्थात् विचार किया जाता है। और जो [उस अलंकृति का] अलङ्करणीय, [अर्थात्] वाचक [शब्द] रूप तथा वाच्य [अर्थ] रूप है उसका भी विवेचन [विचार] किया जाता है। [अर्थात्] सामान्य तथा विशेष लक्षण द्वारा उसका स्वरूप निरूपण किया जाता है। किस प्रकार।

---

१. काव्य प्रकाश १, २ ।

केन हेतुना, तदुपायतया। तदिति काव्यं परामृश्यते। तस्योपायस्तदुपायस्तस्य भावस्तदुपायता तया हेतुभूतया। तस्मादेवंविधो विवेकः काव्यव्युत्पत्त्युपायतां प्रतिपद्यते। दृश्यते च समुदायान्तःपातिनामसत्यभूतानामपि व्युत्पत्तिनिमित्तमपोद्धृत्य विवेचनम्। यथा पदान्तर्भूतयोः प्रकृतिप्रत्यययोः, वाक्यान्तर्भूतानां पदानाञ्चेति।

अपोद्धृत्य अर्थात् अलग करके निकालकर, पृथक्-पृथक् करके। जिस समुदाय [रूप वाक्य] में उन दोनों [अलङ्कार्य शब्द, अर्थ तथा अलंकृति] का अन्तर्भाव है उससे विभक्त करके [उनका विवेचन काव्यालङ्कार ग्रन्थों में किया जाता है।] किस कारण से [विवेचन किया जाता है], उस [काव्य के समझने] का उपाय होने से। तत् पद काव्य का ग्राहक है। उसका उपाय तदुपाय हुआ। उसका भाव तदुपायता, हुई। उसके कारण से [विवेचन किया जाता है]। इसलिए इस प्रकार का विवेचन काव्य-व्युत्पत्ति का उपाय हो जाता है। [केवल इसी लिए शब्द और अर्थ रूप अलङ्कार्य तथा उनके अलङ्कारों का अलग-अलग विवेचन काव्यालङ्कार ग्रन्थों में किया जाता है। वास्तव में तो काव्य की दृष्टि से उन तीनों की अलग-अलग सत्ता नहीं है। अपितु उनकी समष्टि का ही नाम काव्य है। व्यष्टि का कोई महत्त्व नहीं है] परन्तु समुदाय के अन्तःपाती असत्य पदार्थों का भी [कभी-कभी] व्युत्पत्ति के लिए [शास्त्रों में] विवेचन पाया जाता है। जैसे [वैयाकरणों के मत में वाक्य के अन्तर्गत पदों का और पदों के अन्तर्गत वर्णों का अलग-अलग कोई अस्तित्व नहीं है। फिर भी] पदों के अन्तर्गत प्रकृति प्रत्यय का, और वाक्य के अन्तर्गत पदों का। अलग-अलग विवेचन व्याकरण ग्रन्थों में किया जाता है। इसी प्रकार काव्य में शब्द तथा अर्थ रूप अलङ्कार्य और अलङ्कारों की [अलग-अलग स्थिति न रहते हुए भी उनको अलग-अलग करके विवेचन किया जाता है]।

पदों से भिन्न उनके अवयवभूत प्रकृति प्रत्यय अथवा वर्णों की, और वाक्य से भिन्न उसके अवयव रूप पदों की अलग कोई वास्तविक स्थिति नहीं है अपितु केवल 'पदस्फोट' अथवा केवल 'वाक्यस्फोट' ही यथार्थ है। इस बात का प्रतिपादन करते हुए वैयाकरण भूषणसार में लिखा है—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥[1]

---

१. वैयाकरण भूषण सार, कारिका ६८।

यद्येवमसत्यभूतोऽप्यपोद्धारस्तदुपायतया क्रियते तत् किं पुनः सत्यमित्याह—'तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता'।

अयमत्र परमार्थः। सालङ्कारस्यालङ्करणसहितस्य सकलस्य निरस्तावयवस्य सतः काव्यता कविकर्मत्वम्। तेनालंकृतस्य काव्यत्वमिति स्थितिः, न पुनः काव्यस्यालङ्कारयोग इति ॥६॥

सालङ्कारस्य काव्यतेति सम्मुग्धतया किञ्चित् काव्यस्वरूपमासूत्रितम् निपुणं पुनर्न निश्चितम्। किं लक्षणं वस्तु काव्यव्यपदेशभाग् भवतीत्याह—

यदि इस प्रकार काव्य व्युत्पत्ति का उपाय होने से असत्य भूत [अलङ्कार तथा अलङ्कार्य अथवा शब्द तथा अर्थ] उन दोनों का पार्थक्य [मानकर अलग-अलग निरूपण] किया जाता है तो फिर [वस्तुतः] सत्य क्या है, इसको कहते हैं। 'तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता'। सालङ्कार [शब्दार्थ] की काव्यता है यह यथार्थ [तत्त्व] है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि अलङ्कारसहित अर्थात् अलङ्करणसहित, सम्पूर्ण अर्थात् अवयवरहित समस्त समुदाय की काव्यता अर्थात् कविकर्मत्व है। इसलिए अलंकृत [वाक्य] का ही काव्यत्व है [अर्थात् अलङ्कार काव्य का स्वरूपाधायक धर्म है] न कि काव्य में अलङ्कार का योग होता है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि कुन्तक के मत में अलङ्कार काव्य का स्वरूपाधायक धर्म है। केवल शोभाधायक धर्म नहीं है। अतएव साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाश के काव्य-लक्षण का खण्डन करते हुए जो अलङ्कारों को काव्य का शोभाधायक धर्म माना है स्वरूपाधायक नहीं माना है वह कुन्तक के अभिप्राय के विपरीत है। वामन ने भी अपनी काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति के आरम्भ में 'काव्यग्राह्यमलङ्कारात्' तथा 'सौन्दर्यमलङ्कारः' इन दो सूत्रों द्वारा कुन्तक के ही मत का समर्थन किया है। विशेष विवरण के लिए काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति की हिन्दी व्याख्या देखो ॥६॥

[पिछली कारिका में] सालङ्कार की काव्यता होती है यह अस्पष्ट-सा काव्य का स्वरूप निरूपण किया है परन्तु स्पष्ट रूप से नहीं कहा है कि किस प्रकार की वस्तु काव्य नाम [से व्यवहार] के योग्य होती है। इसलिए [उसको स्पष्ट रूप से निरूपण करने अर्थात् स्पष्ट रूप से काव्य का लक्षण करने के लिए] कहते हैं—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥७॥[1]

शब्दार्थौ काव्यम्, वाचको वाच्यश्चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्। द्वावेकमिति विचित्रैवोक्तिः। तेन यत्केषाञ्चिन्मतं कविकौशलकल्पितकमनीयातिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति, केषाञ्चिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्यचमत्कारकारि काव्यमिति, पक्षद्वयमपि निरस्तं भवति। तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते, न पुनरेकस्मिन्। यथा—

भण तरुणि रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि ।
यदि सलीलोल्लापिनि गच्छसि तत्किं त्वदीयं मे ॥६॥[2]

काव्यमर्मज्ञों के आह्लादकारक, सुन्दर [वक्र] कवि व्यापार से युक्त रचना [बन्ध] में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य [कहलाते] हैं ।७।

'शब्दार्थौ काव्यं' अर्थात् वाचक [शब्द] और वाच्य [अर्थ] दोनों मिलकर काव्य है। [अलग-अलग नहीं] दो [शब्द और अर्थ मिलकर] एक [काव्य कहलाते] हैं, यह विचित्र ही [सी] उक्ति है। [अर्थात् हम वक्रोक्ति को काव्य का जीवित निर्धारण करने जा रहे हैं। वह बात काव्य के लक्षण से भी स्पष्ट होती है। शब्द और अर्थ यह दोनों मिलकर एक काव्य नाम को प्राप्त करते हैं यह कथन स्वयं एक प्रकार की वक्रता से पूर्ण होने से वक्रोक्ति है]। इसलिए यह जो किन्हीं का मत है कि कवि कौशल से कल्पित किया गया है सौन्दर्यातिशय जिसका ऐसा केवल शब्द ही काव्य है, और किन्हीं का रचना के वैचित्र्य से चमत्कारकारी अर्थ ही काव्य है [यह जो मत है] यह दोनों पक्ष खण्डित हो जाते हैं। [अर्थात् न केवल शब्द को और न केवल अर्थ को काव्य कहा जा सकता है, अपितु शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहलाते हैं]। इसलिए जैसे प्रत्येक तिल में तेल रहता है इसी प्रकार [शब्द तथा अर्थ] दोनों में ही तद्विदाह्लादकारित्व [काव्यत्व] होता है। किसी एक में नहीं। जैसे—

आनन्दस्यन्दी सुन्दर [शरत्पूर्णिमा के] चन्द्रमा के समान [सुन्दर या प्रकाशमान] मुख वाली, सुन्दर हाव-भावों के साथ बात करने वाली, [सलीलं लीलाभिः सहितं उल्लपितुं वक्तुं शीलं यस्यास्तथाभूते] रक्तचरण वाली [इन दोनों श्लोकों का अर्थ एक साथ होता है इसलिए अगले श्लोक के 'अरुणचरणे' पद का यहाँ अन्वय हो रहा है] हे सुन्दरि [तरुणि], अनल्परूप से मणि-मेखला का शब्द करती हुई और निरन्तर नूपुर की मनोरम ध्वनि करती हुई तुम यदि अपने पति [या प्रिय] के घर को जाती हो

१. महिम भट्ट के 'व्यक्ति विवेक' में पृ० २८ पर तथा समुद्रबन्ध में पृ० ८ पर यह कारिका उद्धृत की गई है।

२. रुद्रट काव्यालङ्कार २, २२-२३।

अनणुरणन्मणिमेखलमविरतशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम् ।
परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते ॥१०॥

प्रतिभादारिद्र्यदैन्यादतिस्वल्पसुभाषितेन कविना वर्णसावर्ण्यरम्यता-मात्रमत्रोदितम् । न पुनर्वाच्यवैचित्र्यकणिका काचिदस्तीति ।

यत्किल नूतनतारुण्यतरङ्गितलावण्यलटभकान्तेः कान्तायाः कामयमानेन केनचिदेतदुच्यते । यदि त्वं तरुणि रमणमन्दिरं व्रजसि तत्किं त्वदीयं रणरणकमकारणं मम करोतीत्यतिग्राम्येयमुक्तिः । किञ्च, न अकारणम् । यतस्तस्यास्तदनादरेण गमनेन तदनुरक्तान्तःकरणस्य विरहविधुरताशङ्काकातरता कारणं रणरणकस्य । यदि वा परिसरणस्य मया किमपराद्धमित्यकारणता-समर्पकम्, एतदप्यतिग्राम्यतरम् । सम्बोधनानि च बहूनि मुनिप्रणीतस्तोत्रामन्त्रण-

---

तो तुम्हारा वह जाना [त्वदीयं तत् परिसरणं] मुझे व्यर्थ ही क्यों सता रहा है [दुःख दे रहा है] ।९-१०।

यह श्लोक काव्यप्रकाश में भी उद्धृत हुए हैं । परन्तु द्वितीय श्लोक के प्रारम्भ में काव्यप्रकाश में 'अनणरणन्' पाठ है । वक्रोक्तिजीवित में 'अननुरणन्' पाठ सम्भवतः संशोधन की भूल से हो गया है । हमने 'अनणुरणन्' पाठ ही रखा है ।

[यहाँ] प्रतिभा के दारिद्र्य और दैन्य के कारण अत्यन्त स्वल्प सुभाषित [वक्तव्य] वाले [अर्थात् जिसके पास कहने योग्य, वर्णन करने योग्य कोई सुन्दर पदार्थ नहीं है, ऐसे] कवि ने [अनुप्रास के प्रलोभन में] वर्णों की समानता की रम्यतामात्र का कथन किया है । परन्तु अर्थ चमत्कार का लश भी उसमें नहीं है ।

और जो नवयौवन से तरङ्गित लावण्य तथा सुन्दर [लटभ] कान्ति वाले [किसी युवक] की कान्ता को चाहने वाला कोई [उपनायक इस श्लोक में जो यह] कह रहा है कि तुम यदि पतिगृह को जाती हो तो तुम्हारा वह [गमन, परिसरण] मुझे बिना कारण के कष्ट क्यों देता है । यह [वक्रता, सौन्दर्ययुक्त न होकर] अत्यन्त ग्राम्य उक्ति है । और ['किं मे रणरणकम-कारणं कुरुते' यह 'रणरणक' अर्थात् दुःख] अकारण नहीं है । क्योंकि उस [कामुक] का अनादर करके उस [सुन्दरी] के [चले] जाने से उसके प्रति अनुरक्त अन्तःकरण वाले उस [उपनायक] की विरहविधुरता की शङ्का ही उसके दुःख का कारण है । अथवा यदि [तुम्हारे] परिसरण [गमन] का मैंने क्या बिगाड़ा [अपराध किया] है इस प्रकार [परिसरण, गमन में] कारणता के अभाव का कथन करना हो तो यह भी

---

१. 'लटभललनाभोगसुलभः' । 'तस्याः पादनखश्रेणिः शोभते लटभभ्रुवः' । 'न कस्य लोभं लटभा तनोति । केशवन्धविभवैर्लटभानाम् । आदि में 'लटभ' शब्द सुन्दर अर्थ वाचक है ।

कल्पानि न काञ्चिदपि तद्विदामाह्लादकारितां पुष्णन्तीति यत्किञ्चदेतत् ।

वस्तुमात्रञ्च शोभातिशयशून्यं न काव्यव्यपदेशमर्हति । यथा—

प्रकाशस्वाभाव्यं विदधति न भावास्तमसि यत्
तथा नैते ते स्युर्यदि किल तथा तत्र न कथम् ।
गुणाध्यासाभ्यासव्यसनदृढ़दीक्षागुरुगुणो
रविव्यापारोऽयं किमथ सदृशं तस्य महसः ॥११॥

अत्र हि शुष्कतर्कवाक्यवासनाधिवासितचेतसा प्रतिभाप्रतिभातमात्रमेव वस्तु व्यसनितया कविना केवलमुपनिबद्धम् । न पुनर्वाचकवक्रताविच्छित्तिलवोऽपि लक्ष्यते । यस्मात्तर्कवाक्यशैय्यैव शरीरमस्य श्लोकस्य । तथा च,

---

अत्यन्त ग्राम्य कथन होगा । और [एक साथ ही दिए हुए] बहुत से सम्बोधन, मुनि-प्रणीत स्तोत्र पाठ के समान [उपहासजनक से] प्रतीत होते हैं । और काव्यमर्मज्ञों की आह्लादकारिता का तनिक भी पोषण नहीं करते हैं । इसलिए यह [उदाहरण] ऐसा ही [रद्दी-सा, व्यर्थ] है । [उसे काव्य नहीं कहना चाहिए] । शोभातिशय से रहित वस्तुमात्र को काव्य नाम से नहीं कहा जा सकता है । जैसे—[निम्न उदाहरण भी चमत्कारहीन होने से काव्य नहीं कहा जा सकता है]—

[घट पट आदि] पदार्थ [स्वयं] प्रकाश स्वरूप नहीं होते हैं । क्योंकि वे अन्धकार में वैसे [प्रकाश स्वरूप] नहीं दीखते । यदि वे वैसे [प्रकाशस्वरूप] हैं तो अन्धकार में वैसे [प्रकाशस्वभाव] क्यों नहीं हैं । [नील, पीत रूप आदि] गुणों का [पदार्थों में] अध्यास [मिथ्या प्रतीति] करने के अभ्यास और व्यसन की दृढ़ दीक्षा के कारण प्रबल गुण वाला यह सूर्य का व्यापार है [जो सब पदार्थों को प्रकाशित करता है । उस [सूर्य] के तेज के समान और क्या है । [कुछ भी नहीं] ।११।

यहाँ शुष्क तर्क वाक्य [अनुमान वाक्य] की वासना से अधिवासित चित्त वाले कवि ने अभ्यासवश [व्यसनितया] केवल प्रतिभा से कल्पित वस्तुमात्र को [श्लोक में] उपनिबद्ध कर दिया है । परन्तु [उसमें] शब्द सौन्दर्य का लवलेश भी दिखलाई नहीं देता है । क्योंकि तर्क इस श्लोक का स्वरूप [शरीर] अनुमान वाक्य [तर्क वाक्य] पर ही आश्रित है । जैसे कि, अन्धकार से अतिरिक्त पदार्थ रूप धर्मी [स्वयं] प्रकाश स्वभाव वाले नहीं होते हैं, यह [इस अनुमान वाक्य रूप श्लोक में प्रतिज्ञा या] साध्य है । अन्धकार में उस प्रकार के [स्वयं प्रकाश स्वभाव] न होने से यह [उक्त साध्य की सिद्धि के लिए] हेतु है [अतः यह किसी नैयायिक का अनुमान वाक्यमात्र प्रतीत होता है, काव्य नहीं] ।

तमोव्यतिरिक्ताः पदार्था धर्मिणः प्रकाशस्वभावा न भवन्ति, इति साध्यम्। तमस्यतथाभूतत्वादिति हेतुः।

दृष्टान्तस्तर्हि कथं न दर्शितः ? तर्कन्यायस्यैव चेतसि प्रतिभासमानत्वात्। तथोच्यते—

तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
स्थाप्येते, विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः ॥१२॥

[प्रश्न] यदि इस श्लोक में अनुमान वाक्य ही प्रस्तुत किया गया है [तो अनुमान वाक्य में अपेक्षित] तो दृष्टान्त क्यों नहीं दिखलाया है ?

[उत्तर] तर्क की नीति के ही चित्त में प्रतिभासमान होने से । [दृष्टान्त इस अनुमान वाक्य में, नहीं दिया है । अर्थात् बौद्ध आदि के न्याय के सिद्धान्त के अनुसार विशिष्ट विद्वानों के लिए अनुमान वाक्य में दृष्टान्त का होना आवश्यक नहीं है] । जैसा कि [निम्नलिखित श्लोक में] कहा है—

उस [हेतु और साध्य के साध्य साधन भाव] को न समझ सकने वाले [अल्पज्ञ पुरुष] के लिए [ही] दृष्टान्त में साध्य-साधन भाव [तद्भाव हेतुभावौ] दिखाए [स्थापित किए] जाते हैं । [विद्वानों के लिए उनकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि विद्वान् उस साध्य-साधन भाव को स्वयं समझ सकते हैं । इसलिए] विद्वानों के लिए केवल हेतु ही कहना चाहिए ।१२।

न्यायदर्शन में अनुसार परार्थानुमान में पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग अनिवार्य माना गया है, परन्तु अन्य शास्त्रों में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन के प्रयोग के विषय में अन्य कई प्रकार के मत पाये जाते हैं । सांख्य कारिका की 'माठर-वृत्ति' में पाँचवी कारिका की व्याख्या में प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण केवल इन तीन अवयवों का ही प्रतिपादन आवश्यक माना गया है । प्रभाकर के अनुयायी मीमांसक 'शालिकनाथ' ने अपनी 'प्रकरण पञ्चिका'[1] में और कुमारिलभट्ट के अनुयायी मीमांसक पार्थसारथिमिश्र ने श्लोक वार्तिक[2] की व्याख्या में तीन अवयवों के ही प्रयोग का प्रतिपादन किया है । प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र तथा अनन्तवीर्य[3] ने चार अवयवों का प्रयोग मानने वाले किसी मीमांसक सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया है। परन्तु उस प्रकार का कोई मीमांसक सम्प्रदाय इस समय मिलता नहीं है । बौद्ध तथा कुछ जैन तार्किक[4] हेतु तथा दृष्टान्त इन दो अवयवों का ही प्रयोग मानते हैं अथवा केवल

---

१. पृ० ८३, ८४।

२. अनुमान श्लोक ५४।

३. प्रमेय र० ३,३७।

४. प्रमाणवार्तिक १, २८, स्याद्वाद र० पृ० ५५९।

इति । विदधतीति विपूर्वो दधातिः करोत्यर्थे वर्तते । स च करोत्यर्थोऽत्र न सुस्पष्टसमन्वयः प्रकाशस्वाभाव्यं न कुर्वन्तीति । प्रकाशस्वाभाव्यशब्दोऽपि चिन्त्य एव । प्रकाशः स्वभावो यस्यासौ प्रकाशस्वभावः । तस्य भाव इति भावप्रत्यये विहिते पूर्वपदस्य वृद्धिः प्राप्नोति । अथ स्वभावस्य भावः स्वाभाव्यमित्यत्रापि भावप्रत्ययान्ताद्भावप्रत्ययो न प्रचुरप्रयोगार्हः । तथा प्रकाशश्चासौ स्वाभाव्यञ्चेति विशेषणसमासोऽपि न समीचीनः ।

हेतु से भी काम चलाने का प्रतिपादन करते हैं । जैसा कि इस श्लोक में प्रतिपादन किया है । जैन आचार्य 'माणिक्य नन्दी' ने प्रदेश भेद की दृष्टि से दो अथवा पाँच अवयवों के प्रयोग का निर्देश किया है । उनके अनुसार 'वाद' प्रदेश में तो पाँच अवयवों के प्रयोग का नियम समझना चाहिए और 'शास्त्र' प्रदेश में अधिकारिभेद से दो अथवा पाँच अवयवों का प्रयोग वैकल्पिक है । यहाँ कुन्तक ने जो श्लोक उद्धृत किया है उसमें केवल हेतु रूप एक अवयव के प्रयोग का औचित्य प्रतिपादन किया गया है । वह बौद्ध अथवा जैन सिद्धान्त के अनुरूप है । यह उद्धृत श्लोक कहाँ का है यह पता नहीं चला । कुन्तक ने जो एक हेतुमात्र के प्रयोग का समर्थन किया है वह हेतु की मुख्यता को ध्यान में रखकर सामान्य रूप से कर दिया है । उससे कुन्तक को बौद्ध या जैन मानना उचित नहीं होगा । क्योंकि कुन्तक ने अपने मङ्गलाचरण में स्पष्ट रूप से शिव को नमस्कार किया है ।

[ऊपर उदाहरण रूप में उद्धृत 'प्रकाशस्वाभाव्य' वाले श्लोक में] विदधति इस [प्रयोग] में वि [उपसर्ग] पूर्वक धा [दधाति] धातु कृ [डुकृञ् करणे] धातु [करोति] के अर्थ में [प्रयुक्त] है । और वह, करोति [कृञ् धातु] का अर्थ [यहाँ] स्पष्ट रूप से समन्वित नहीं होता है । प्रकाशस्वाभाव्य नहीं करते हैं । [यह अर्थ स्पष्ट रूप से सङ्गत नहीं प्रतीत होता है । अतः उसका प्रयोग अनुचित है] । और 'प्रकाशस्वाभाव्य', शब्द [का प्रयोग] भी चिन्त्य [अशुद्ध] है । [क्योंकि] प्रकाश जिसका स्वभाव है वह प्रकाश स्वभाव [हुआ] उसका भाव इस [अर्थ] में [प्रकाश स्वभाव शब्द से फिर एक ओर] भावप्रत्यय [ष्यञ] करने पर पूर्व पद की वृद्धि, प्राप्त होती है । [पूर्वपद की वृद्धि होकर प्राकाशस्वाभाव्यं प्रयोग बनेगा, 'प्रकाशस्वाभाव्यं' प्रयोग नहीं बनेगा] । और यदि [पहिले] स्वभाव का भाव स्वाभाव्य [ऐसा प्रयोग बनाकर फिर उसका प्रकाश के साथ समास करके 'प्रकाशस्वाभाव्यं' पद को बनाने का प्रयत्न करे तो भी ठीक नहीं होगा । [क्योंकि] इस [स्वाभाव्य प्रयोग] में भी भाव प्रत्ययान्त [भाव शब्दान्त स्वभाव शब्द] से [फिर] भाव प्रत्यय का विशेष प्रयोग नहीं होता है । इसलिए [पहिले स्वाभाव्यं पद बनाकर उसका प्रकाश शब्द के साथ] प्रकाशश्चासौ स्वाभाव्यं च यह विशेषण [कर्मधारय] समास भी उचित नहीं है । [अतः, यह प्रयोग ठीक नहीं है] ।

तृतीये च पादेऽत्यन्तासमर्पकसमासभूयस्त्ववैशसं न तद्विदाह्लादकारितामावहति। 'रविव्यापार' इति रविशब्दस्य प्राधान्येनाभिमतस्य समासे गुणीभावो न विकल्पितः। पाठान्तरस्य 'रवेः' इति सम्भवात्।

ननु वस्तुमात्रस्यालङ्कारशून्यतया कथं तद्विदाह्लादकारित्वमिति चेत्, तन्न। यस्मादलङ्कारेणाप्रस्तुतप्रशंसालक्षणेनान्यापदेशतया स्फुरितमेव कविचेतसि। प्रथमं च प्रतिभाप्रतिभासमानमघटितपाषाणशकलकल्पमणिप्रख्यमेव वस्तु विदग्धकविविरचितवक्रवाक्योपारूढं शाणोल्लीढ़मणिमनोहरतया तद्विदाह्लादकारिकाव्यत्वमधिरोहति। तथा चैकस्मिन्नेव वस्तुनि, अवहितानवहितकविद्वितयविरचितं वाक्यद्वयमिदं महदन्तरमावेदयति—

और [उक्त प्रकाशस्वाभाव्यं वाले श्लोक के] तृतीय पाद में अत्यन्त [अर्थ के] असमर्पक [अर्थ बोध के बाधक] समासों का बाहुल्यरूप अत्याचार [सहृदय] काव्यमर्मज्ञों के लिए आह्लादकारक नहीं होता है। [चतुर्थ चरण में] रविव्यापार इस [समस्त पद] में प्राधान्येन अभिमत रवि शब्द को समास में गुणीभाव से नहीं बचाया गया है [जो कि बचाया जा सकता था। 'रविव्यापारोऽयं' के स्थान पर समास को तोड़कर] 'रवेः' [व्यापारोऽयं] यह पाठान्तर भी सम्भव होने से। [रविव्यापारः इस समस्त पद का प्रयोग उचित नहीं हुआ है। क्योंकि उससे रवि का अभिमत प्राधान्य नहीं रहता है। इसलिए शोभातिशय से शून्य और अनेक दोषग्रस्त यह 'प्रकाशस्वाभाव्यं' वाला श्लोक काव्य कहलाने योग्य नहीं है]।

[प्रश्न, यदि शोभातिशयशून्य वस्तुमात्र को काव्य नहीं कहा जा सकता है तो, अप्रस्तुत प्रशंसा जैसे किन्हीं स्थलों में] अलङ्कारशून्य होने से वस्तुमात्र का सहृदयहृदयाह्लादकारित्व कैसे होता है ?

[उत्तर] यह शङ्का हो तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि [ऐसे उदाहरणों में] अन्योक्ति [अन्यापदेश] के रूप में अप्रस्तुत प्रशंसा रूप अलङ्कार कवि [तथा पाठक] के चित्त में स्फुरित हो ही जाता है। और पहिले बिना गढ़े हुए पत्थर के टुकड़े सी [लगने वाली] मणि के समान, प्रतिभा से प्रतिभासमान वस्तु विदग्धकविरचित वाक्य [काव्य] में उपारूढ़ होकर [वाद को] सान पर घिसे हुए मणि के समान मनोहर होकर [काव्यमर्मज्ञ] सहृदयों के आह्लादकारित्व को प्राप्त करती है। इसीलिए एक ही विषय [वस्तुनि] में सावधान और असावधान कवि द्वारा रचित [निम्नाङ्कित] दो वाक्य [श्लोक] प्रचुर भेद को प्रदर्शित करते हैं।

यह श्लोक किरातार्जुनीय के नवमसर्ग का २६वाँ श्लोक है। रुद्रट के काव्यालङ्कार की टीका में नमिसाधु ने पृ० ६९ पर इसको उद्धृत भी किया है।

मानिनीजनविलोचनपातानुष्णवाष्पकलुषानभिगृह्णन् ।
मन्दमन्दमुदितः प्रययौ खं भीतभीत इव शीतमयूखः ॥१३॥[1]

क्रमादेकद्वित्रिप्रभृति परिपाटीः प्रकटयन्
कलाः स्वैरं स्वैरं नवकमलकन्दांकुररुचः ।
पुरन्ध्रीणां प्रेयो विरहदहनोद्दीपितदृशां
कटाक्षेभ्यो बिभ्यन्निभृत इव चन्द्रोऽभ्युदयते ॥१४॥

एतयोरन्तरं सहृदयहृदयसंवेद्यमिति तैरेव विचारणीयम् । तस्मात् स्थितमेतत्, न शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वं, नाप्यर्थस्येति । तदिदमुक्तम्—

रूपकादिरलङ्कारस्तथान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ॥१५॥[2]

गरम गरम आँसुओं से कलुषित मानिनी जनों के दृष्टिपातों [कटाक्षों] को ग्रहण करता हुआ, डरता-डरता-सा धीरे-धीरे उदय होता हुआ चन्द्रमा आकाश [में आया] को चला ।१३।

यह सावधान रहने वाले महाकवि 'भारवि' की उक्ति है । इसी विषय को किसी दूसरे अनवहित, असावधान कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है ।

नवीन कमलकन्द से समान कान्ति वाली कलाओं को, एक-दो-तीन की परिपाटी से धीरे-धीरे प्रकट करते हुए, प्रियों के विरहाग्नि से दीप्त नेत्र वाली [क्रुद्ध] स्त्रियों के कटाक्षों से डरता हुआ मानो छिपा हुआ-सा चन्द्रमा उदय हो रहा है ।१४।

इन दोनों का अन्तर सहृदय संवेद्य है यह [अन्तर] वही [सहृदय] समझ [विचार] सकते हैं । इसलिए यह बात निश्चित हुई कि न केवल रमणीयता विशिष्ट शब्द काव्य है और न [केवल] अर्थ । [अपितु शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि में 'व्याप्यवृत्ति' काव्यत्व है] । यह बात [भामह ने अपने काव्यालङ्कार १,१५-१७ में] कही [भी] है—

अन्यों [अनेक आलङ्कारिकों] ने रूपकादि [अर्थालङ्कार] अलङ्कार वर्ग का अनेक प्रकार से निरूपण किया है । [क्योंकि अलङ्कारों के बिना गुणादियुक्त काव्य भी इस प्रकार शोभित नहीं होता है जिस प्रकार कि] सुन्दर होने पर भी, अलङ्कारों के बिना स्त्री का मुख [पूर्ण रूप से] शोभित नहीं होता है ।१५।

---

१. किरात ६, २६, तथा रुद्रट का० अ० टीका पृ० ६६ ।

२. भामह काव्यालङ्कार १,१५ ।

रूपकादिमलङ्कारं वाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङाञ्च व्युत्पत्ति वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम् ॥१६॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः ॥१७॥[1]

तेन शब्दार्थौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम्। एवमवस्थापिते द्वयोः काव्यत्वे कदाचिदेकस्य मनाङ्मात्रन्यूनतायां सत्यां काव्यव्यवहारः प्रवर्ततेत्याह,—सहिताविति। सहितौ सहितभावेन साहित्येनावस्थितौ।

ननु च वाच्यवाचकसम्बन्धस्य विद्यमानत्वादेतयोर्न कथञ्चिदपि साहित्यविरहः। सत्यमेतत्, किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। कीदृशम्, वक्रताविचित्रगुणालङ्कारसम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोहः तेन—

दूसरे लोग [जो शब्दालङ्कार को प्रधान मानते हैं] रूपकादि [अर्थालङ्कारों] अलङ्कारों को [शब्द सौन्दर्य तथा अर्थ के अनुभव के बाद प्रतीत होने से] बाह्य [अप्रधान] कहते हैं मौर सुबन्त तिङन्त पदों के सौन्दर्य [अलंकृति] को ही वाणी का [प्रधान] अलङ्कार मानते हैं।१६।

इसी [सुबन्त तिङन्त पदों के सौन्दर्य] को [शब्दालङ्कारप्रधानतावादी] 'सौशब्द्य' कहते हैं। [वही काव्य में अधिक चमत्कारजनक होने से प्रधान है] अर्थ [अर्थालङ्कारों] की व्युत्पत्ति इतनी चमत्कारजनक नहीं होती है। [इसलिए शब्दालङ्कार ही प्रधान और रूपकादि अर्थालङ्कार बाह्य अथवा अप्रधान हैं। यह दूसरे लोगों का मत है] परन्तु हम [भामह] को तो शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार भेद से दोनों ही इष्ट हैं।१७।

इसलिए शब्द और अर्थ दोनों सम्मिलित रूप से काव्य हैं यह स्थिर हुआ। इस प्रकार [शब्द तथा अर्थ] दोनों के काव्यत्व के निर्धारित हो जाने पर कभी [उन दोनों में से] किसी एक की कुछ न्यूनता हो जाने पर भी काव्य व्यवहार होने लगे [जो कि इष्ट नहीं है] इसलिए [उस एक में काव्य व्यवहार के निवारण के लिए] कहते हैं, 'सहितौ'। सहितौ अर्थात् सहभाव से 'साहित्य' से अवस्थित [शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहलाते हैं]।

[प्रश्न] वाच्य और वाचक के सम्बन्ध के [नित्य] विद्यमान होने से इन दोनों [शब्द और अर्थ] के साहित्य [सहभाव] का अभाव कभी नहीं होता है। [तब शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् यह कहने का क्या प्रयोजन है] ?

[उत्तर] सत्य है। [सभी वाक्यों में शब्द और अर्थ का सहभाव या साहित्य रहता है] किन्तु यहाँ विशिष्ट [प्रकार का] साहित्य अभिप्रेत ने कैसा [विशिष्ट

---

१. भामह काव्यालङ्कार १, १६–१७।

मम सर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ॥१८॥
ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी ।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥१९॥

अत्रारुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुषः शशिनः कामपरिक्षामवृत्तेः कामिनी-कपोलफलकस्य च पाण्डुत्वसाम्यसमर्थनादर्थालङ्कारपरिपोषः शोभातिशयमावहति । वक्ष्यमाणवर्णविन्यासवक्रतालक्षणः शब्दालङ्कारोऽप्यतितरां रमणीयः । वर्णविन्यासविच्छित्तिविहिता लावण्यगुणसम्पदस्त्येव ।

सहभाव अभिप्रेत है । इसका उत्तर देते हैं] वक्रता [सौन्दर्य] से विचित्र गुणों तथा अलङ्कारों की सम्पत्ति [सौन्दर्य] का परस्पर स्पर्धा पर आ जाना [रूप विशिष्ट प्रकार का साहित्य काव्यत्व का प्रयोजक है] इसलिए—

मेरे मत में सर्वगुण-युक्त और मित्रों के समान परस्पर सङ्गत शब्द और अर्थ दोनों एक दूसरे के लिए शोभाजनक होते हैं [वही काव्य पद वाच्य होते हैं] । जैसे—।१८।

उसके बाद [प्रातःकाल के समय] अरुण के आगमन से कान्तिरहित हुआ चन्द्रमा, [काम] सम्भोग से दुर्बल कामिनी के कपोल के समान पीला पड़ गया । [पाण्डुता को प्राप्त हो गया] ।१९।

इस [उदाहरण] में अरुणोदय के कारण कान्तिरहित चन्द्रमा के, सम्भोग [काम] से क्षीण हुई कामिनी के कपोलतल के साथ पाण्डुत्व की समानता के समर्थन से अर्थालङ्कार का परिपोष [उसको] शोभातिशय प्रदान करता है । और आगे कहा जाने वाला वर्णविन्यास वक्रता [अनुप्रास] रूप शब्दालङ्कार भी अत्यन्त रमणीय है । [इसलिए] वर्णविन्यास के सौन्दर्य से उत्पन्न [अर्थगत] लावण्य गुण की सम्पत्ति [भी इस उदाहरण में] है ही । [अतः शब्द और अर्थ का विशिष्ट साहित्य होने से यह पद्य काव्य कहलाने योग्य है] ।

'ततोऽरुणपरिस्पन्द' इत्यादि श्लोक अलङ्कार शास्त्र के ग्रन्थों में बहुत उद्धृत हुआ है । राजशेखर की काव्यमीमांसा के पृ० ६७ पर, हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन के पृ० २०६ पर, और मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में पृ० ४९६ पर इस पद्य को उद्धृत किया है । सुभाषितावली [२१३३] में इस पद्य को वाल्मीकि का पद्य बतलाया है । और काव्यप्रकाश के टीकाकार कमलाकरभट्ट तथा चक्रवर्ती दोनों ने इसे द्रोणपर्व के

रात्रि-युद्ध के अन्त में प्रभात-वर्णन का पद्य बताया है । परन्तु वस्तुतः यह पद्य न रामायण में पाया जाता है और न महाभारत में । मालूम नहीं कहाँ से लिया गया है ।

हमने अपने 'साहित्य-मीमांसा' नामक ग्रन्थ में 'साहित्य' शब्द का विवेचन इस प्रकार किया है—

निखिलं वाङ्मयं लोके यावच्छब्दस्य गोचरम् ।
शब्दार्थयोस्तु साहित्यात् सर्वं साहित्यमिष्यते ॥१॥
शब्दार्थौ सहितौ काव्यमिति कृत्वा च लक्षणम् ।
कृतः काव्यपरामर्शी शब्दोऽयं भामहादिभिः ॥२॥
ततोऽलङ्कारशास्त्रादि सम्बद्धं काव्यतोऽखिलम् ।
जातं वेदान्तवत् सर्वं साहित्यव्यपदेशभाक् ॥३॥
परेषां वाङ्मयाङ्गानां भिन्नाः संज्ञाः पृथक् श्रुताः ।
काव्यलङ्कारगो जातः परिशेषात्ततोऽप्ययम् ॥४॥

एवं साहित्यशब्दोऽयमर्थभेदाद् द्विधा कृतः ।
व्याप्यः काव्यादिगस्त्वेको व्यापको वाङ्मयेऽखिले ॥६॥
लिखितेनैव रूपेणाधुना साहित्यनिर्मितिः ।
शक्या, किन्तु पुरासीत् साऽलिखितेति 'श्रुतिः' 'स्मृतिः' ॥७॥
पुरा साहित्यशब्दोऽयं दृष्ट काव्यादिगोचरः ।
नव्य एव प्रयोगोऽस्य दृश्यते वाङ्मयेऽखिले ॥८॥

शब्दाः सन्त्येव सन्त्यर्थाः सम्बन्धोऽपि तयोर्ध्रुवः ।
किन्तु वैशिष्ट्यमेवैषां साहित्येऽस्ति प्रयोजकम् ॥९॥
तुल्यार्थकेषु शब्देषु नैकेषु विस्फुरत्स्वपि ।
कविर्विशिष्टमादत्ते कञ्चिदेकन्तु सुन्दरम् ॥१०॥
अनन्तेष्वपि चार्थेषु विशिष्टा एव केचन ।
साहित्ये वाथ काव्ये वा सन्ति किन्तूपयोगिनः ॥११॥
इतिहासादिसिद्धं वा लोकसिद्धमथापि वा ।
कवयः काव्यमार्गेऽर्थं त्वन्यथापि प्रयुञ्जते ॥१२॥
सम्बन्धोऽपि द्वादशधा भोजराजेन वर्णितः ।
तेषां विशिष्ट एवात्र साहित्येऽस्ति प्रयोजकः ॥१३॥
विशिष्टोऽर्थश्च शब्दश्च सम्बन्धेऽपि विशिष्टता ।
शब्दार्थयोस्तु साहित्ये विशिष्टैरुपवर्णिता ॥१४॥

यथा च—

लीलाइ कुवलअं कुवलअं व सीसे समुव्वहंतेण ।
सेसेण सेसपुरिसाण पुरिसआरो समुव्वसिओ ॥२०॥
[लीलया कुवलयं कुवलयमिव शीर्षे समुद्वहता ।
शेषेण शेषपुरुषाणां पुरुषकारः समुपहासितः ॥ इतिच्छाया]

'साहित्यार्थसुधासिन्धोः सारमुन्मीलयाम्यहम् ।'
कुन्तकेन प्रतिज्ञाय कृतमित्थं विवेचनम् ॥१५॥

"शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा ।
सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते ॥
शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनौ ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥
साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः" ॥
एवं साहित्यशब्दस्य चार्थतत्त्वविवेचनम् ।
कुन्तकेन कृतं स्वीये ग्रन्थे वक्रोक्तिजीविते ॥१६॥

दर्शनाद् वर्णनाच्चैव साहित्यमर्थशब्दयोः ।
दर्शनं वर्णनं काव्यबीजं 'तौतेन' दर्शितम् ॥१७॥
अतोऽभिनवगुप्तस्य भट्टतौतोऽस्ति यो गुरुः ।
ऋषित्वं तेन सम्प्रोक्तं कवीनां काव्यकर्मणि ॥१८॥
"नानृषिः कविरित्युक्तं ऋषिश्च किल दर्शनात् ।
विचित्रभावधर्मांशतत्वप्रख्या च दर्शनम् ॥
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः ।
दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढ़ा लोके कविश्रुतिः ॥
तथाहि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः ।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना ॥"
एवं श्री भट्टतौतेन स्वग्रन्थे काव्यकौतुके ।
ऋषित्वं दर्शनात् प्रोक्तं कवित्वं वर्णनात् तथा ॥२०॥[1]

और जैसे—

[कुवलय शब्द के अर्थ नील कमल और कु अर्थात् पृथ्वी का वलय अर्थात् मण्डल पृथ्वीमण्डल यह दो हैं ।] लीलाकमल के समान पृथ्वीमण्डल को अनायास [लीलया] धारण करते हुए शेष [नाग] ने, शेष [सब] पुरुषों के पुरुषार्थ [पराक्रम] का उपहास-सा किया ।२०।

---

१. साहित्यमीमांसा १ ।

अत्राप्रस्तुतप्रशंसोपमालक्षणवाच्यालङ्कारवैचित्र्यविहिता हेलामात्रविरचितयमकानुप्रासहारिणी समर्पकत्वसुभगा कापि काव्यच्छाया सहृदयहृदयमाह्लादयति ।

द्विवचनेनात्र वाच्यवाचकजातिद्वित्वमभिधीयते । व्यक्तिद्वित्वाभिधाने पुनरेकपदव्यवस्थितयोरपि काव्यत्वं स्यादित्याह—'बन्धे व्यवस्थितौ' । बन्धो वाक्यविन्यासः, तत्र व्यवस्थितौ । विशेषेण लावण्यादिगुणालङ्कारशोभिना सन्निवेशेन कृतावस्थानौ। सहितावित्यत्रापि यथायुक्ति स्वजातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण च साहित्यं परस्परस्पर्धित्वलक्षणमेव विवक्षितम् । अन्यथा तद्विदाह्लादकारित्वहानिः प्रसज्येत । यथा—

यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा और उपमा रूप [वाच्य] अर्थालङ्कार के वैचित्र्य से उत्पन्न, और अनायासविरचित यमकानुप्रास [रूप शब्दालङ्कार] से मनोहर, समर्पकत्व [झटिति अर्थ-बोधकत्व] के कारण सुन्दर [शब्द तथा अर्थ का] कुछ अपूर्व रचना सौन्दर्य सहृदय के हृदय को आह्लादित करता है ।

[मूल कारिका में प्रयुक्त शब्दार्थौ पद में] द्विवचन से यहाँ [वाच्य और वाचक] अर्थ और शब्द के जातिगत द्वित्व [अर्थात् वाक्य के समस्त शब्दों और समस्त अर्थों का साहित्य] कहा गया है । [क्योंकि उसके अभाव में] व्यक्ति द्वित्व [अर्थात् एक शब्द और एक अर्थ के साहित्य] का कथन होने पर तो एक पद में स्थित [शब्द और अर्थ के साहित्यों] का भी काव्यत्व प्राप्त होने लगेगा । इसलिए कहा है 'बन्धे व्यवस्थितौ' । बन्ध अर्थात् वाक्य-रचना । उसमें व्यवस्थित अर्थात् विशेष लावण्यादि [साधक] गुण अलङ्कार आदि से शोभित विन्यास [विशेष] से स्थित [शब्द और अर्थ] । सहितौ इस [पद] में भी पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार [व्यक्तिगत साहित्य न मानकर जातिगत साहित्य मानने से] शब्द का स्वजातीय [शब्द] की अपेक्षा से शब्दान्तर के साथ और अर्थ [वाच्य] का [सजातीय] अर्थान्तर के साथ 'परस्परस्पर्धित्व' रूप 'साहित्य' ही विवक्षित है । [अर्थात् जिस वाक्य का प्रत्येक शब्द दूसरे शब्द के साथ और प्रत्येक अर्थ दूसरे अर्थ के साथ, सौन्दर्य के लिए 'अहमहमिका' से मानो प्रतिस्पर्धा कर रहा हो । ऐसा वाक्य ही 'साहित्य' से युक्त अतएव काव्यपद से वाच्य है।] अन्यथा [इस प्रकार के शब्द और अर्थ के साहित्य से विरहित वाक्य में] तद्विदाह्लादकारित्व नहीं बन सकता है । जैसे—

यह श्लोक महाकवि भवभूति के प्रसिद्ध नाटक मालती माधव से लिया गया है । कापालिक को मालती के वध के लिए उद्यत देखकर माधव कह रहा है ।

असारं संसारं परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं
निरालोकं लोकं मरणशरणं बान्धवजनम् ।
अदर्पं कन्दर्पं जननयननिर्माणमफलं
जगज्जीर्णारण्यं कथमसि विधातुं व्यवसितः ॥२१॥[1]

अत्र किल कुत्रचित् प्रबन्धे कश्चित् कापालिकः कामपि कान्तां व्यापादयितुमध्यवसितो भवन्नेवमभिधीयते । यदपगतसारः संसारः, हृतसर्वस्वं त्रैलोक्यं, आलोककमनीयवस्तुवर्जितो जीवलोकः, सकललोकलोचननिर्माणं निष्फलप्रायं, त्रिभुवनविजयित्वदर्पहीनः कन्दर्पः, जगज्जीर्णारण्यकल्पमनया विना भवतीति किं त्वमेवंविधमकरणीयं कर्तुं व्यवसित इति ।

एतस्मिन् श्लोके महावाक्यकल्पे वाक्यान्तराण्यवान्तरवाक्यसदृशानि तस्याः सकललोकलोभनीयलावण्यसम्पत्प्रतिपादनपराणि परस्परस्पर्धीन्यतिरमणीयान्युपनिबद्धानि कमपि काव्यच्छायातिशयं पुष्णन्ति । मरणशरणं बान्धवजनमिति न पुनरेतेषां कलामात्रमपि स्पर्धितुमर्हतीति न तद्विदामाह्लादकारि ।

अरे तू [इस मालती को मारकर] संसार को असार, त्रिभुवन को रत्नविहीन [अपहृत रत्न] विश्व को अन्धकारमय, [मालती के] बान्धव लोगों को मरण का शरण, कामदेव को दर्पहीन, जगत् के नेत्रों के निर्माण को व्यर्थ और जगत् को जीर्ण अरण्य बना देने पर क्यों तुल गया है ? ।२१।

इस [श्लोक में] किसी प्रबन्ध [मालतीमाधव नाटक अङ्क ५, श्लोक० ३०] में किसी कापालिक के किसी स्त्री [मालती] को मारने को उद्यत होने पर उससे इस प्रकार कहा गया है कि [इसके मरने से इसके अभाव में] संसार सारहीन, त्रैलोक्य रत्नसर्वस्व से रहित, जीवलोक आलोक [सौन्दर्य] से कमनीय वस्तु से विहीन, समस्त जनों के नेत्रों का निर्माण निष्फलप्राय, कामदेव त्रिभुवनविजयित्व के दर्प से रहित और जगत् जीर्णारण्य के समान हो जायगा, इसलिए तू इस प्रकार के न करने योग्य [अनुचित] कार्य के करने को क्यों उद्यत हो रहा है ?

इस महावाक्य के सदृश श्लोक में अवान्तर वाक्य के सदृश [अन्य समस्त] वाक्य उस [मालती] की सकललोकलोभनीय सौन्दर्य सम्पत्ति के प्रतिपादन परक, एक दूसरे से स्पर्धा करने वाले से, अत्यन्त सुन्दर रूप से ग्रथित होकर काव्य के कुछ अनिर्वचनीय सौन्दर्य को प्रकट करते हैं। [परन्तु इन अवान्तर वाक्यों में से], मरणशरणं बान्धवजनम्' यह [अवान्तर वाक्य] इन [असारं संसारं आदि अन्य अवान्तर वाक्यों] की कलामात्र के साथ भी स्पर्धा करने योग्य नहीं है । इसलिए [वह] काव्यमर्मज्ञों के लिए आह्लाद-

---

१. मालती माधव ५, ३० ।

बहुषु च रमणीयेष्वेकवाक्योपयोगिषु युगपत्प्रतिभासपदवीमवतरत्सु, वाक्यार्थ-परिपूरणार्थं तत्प्रतिमं प्राप्तुमपरं, प्रयत्नेन प्रतिभा प्रसाद्यते । तथा चास्मिन्नेव प्रस्तुतवस्तुसब्रह्मचारि वस्त्वन्तरमपि सुप्रापमेव—

'विधिमपि विपन्नाद्भुत-विधिम्' इति ।

प्रथमप्रतिभातपदार्थप्रतिनिधि-पदार्थान्तरासम्भवे सुकुमारतरापूर्वसमर्पणेन कामपि काव्यच्छायामुन्मीलयन्ति कवयः । यथा—

रुद्राद्रेस्तुलनं स्वकण्ठविपिनोच्छेदो हरेर्वासनं ।
कारावेश्मनि, पुष्पकापहरणम् ॥२२॥[1]

इत्युपनिबद्ध्य पूर्वोपनिबद्धपदार्थानुरूपवस्त्वन्तरासम्भवादपूर्वमेव —'यस्येदृशाः केलयः' ।

कारी नहीं हैं। एक [श्लोक] वाक्य के उपयोगी बहुत से रमणीय वाक्यों के एक साथ स्फुरित होने पर [भी श्लोक की पूर्ति में कुछ कमी रह जाय पर उस श्लोक] वाक्य के अर्थ को पूर्ण करने के लिए उन ही के समान [सुन्दर अविशिष्ट] अन्य [वाक्य] को ढूँढ़ने के लिए बड़े प्रयत्न से बुद्धि लगानी होती है। [परन्तु यहाँ कवि ने 'मरणशरणं बान्धवजनम्' इस वाक्य के स्थान पर अन्य अवान्तर वाक्यों के सदृश उनसे स्पर्धा करने वाला अन्य वाक्य के खोजने का प्रयत्न नहीं किया है। यों ही भरती के लिए 'मरणशरणं बान्धवजनम्' यह अवान्तर वाक्य बीच में डाल दिया है। इसलिए श्लोक का चमत्कार कम हो गया है। यदि कवि प्रयत्न करता तो इसके स्थान पर अधिक चमत्कारी वाक्य मिल सकता था] क्यों कि इस [श्लोक] में प्रस्तुत वस्तु के समान [चमत्कारी] दूसरी वस्तु [अन्य अवान्तर वाक्य] भी सरलता से मिल सकता है। जैसे ['मरणशरणं बान्धवजनम्' के स्थान पर] 'विधिमपि विपन्ना-द्भुतविधिम्' यह [पाठ कर देने से यह दोष दूर हो सकता है]।

[और कहीं-कहीं] प्रथम प्रतीत हुए पदार्थ के स्थान पर प्रतिनिधि रूप, अन्य अवान्तर वाक्यों] से स्पर्धा करने वाले अन्य पदार्थ का [मिलना] सम्भव न होने पर कुछ और भी अधिक सुकुमार अपूर्व शैली से वर्णन करके कवि लोग कुछ अनिर्वचनीय काव्यशोभा का प्रकट करते [हुए देखे जाते] हैं। जैसे [बाल रामायण नाटक के अङ्क १, श्लोक ५१ में निम्न प्रकार चमत्कार उत्पन्न किया गया है]—

कैलाश को उठाना, अपने अनेक शिरों को [शिव को प्रसन्न करने के लिए] काट डालना, इन्द्र को कारावास में डाल देना, [कुबेर के] पुष्पक [विमान] को छीन लेना—।२२।

इस प्रकार [रावण के उत्कर्ष का] वर्णन करके, पूर्वोपनिबद्ध पदार्थों के अनुरूप

---

१. बाल रामायण १,५१ ।

इति न्यस्तम् । येनान्येऽपि कामपि कमनीयतामनीयन्त । यथा च—

तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा
तद्गोष्ठ्यैव निशापि मन्मथकृतोत्साहैस्तदङ्गार्पणैः ।
तां सम्प्रत्यपि मार्गदत्तनयनां द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे
बद्धोत्कण्ठमिदं मनः, किं— ॥२३॥[1]

इति । सम्प्रत्यपि तामेवंविधां वीक्षितुं प्रवृत्तस्य मम मनः किमिति बद्धोत्कण्ठमिति परिसमाप्तेऽपि तथाविधवस्तुविन्यासो विहितः—

—'अथवा प्रेमासमाप्तोत्सवम्'

इति । येन पूर्वेषां जीवितमिवार्पितम् ।

यद्यपि द्वयोरप्येतयोस्तत्प्राधान्येनैव वाक्योपनिबन्धः, तथापि कविप्रतिभाप्रौढ़िरेव प्राधान्येनावतिष्ठते ।

[महत्त्वशाली] अन्य पदार्थ का [मिलना] असम्भव होने से [पुष्पकापहरणं के आगे] 'जिसकी इस प्रकार की क्रीड़ाएँ हैं' [यस्येदृशः केलयः] ।

यह [अवान्तर वाक्य कवि ने] रख दिया है । जिससे [न केवल यह वाक्य उनकी स्पर्धा में आ गया है अपितु उसके कारण] अन्य [वाक्य] भी कुछ अपूर्व शोभा को प्राप्त हो गये हैं ।

और जैसे [तापस वत्सराज चरितम् के निम्नलिखित श्लोक में]—

उसके मुखचन्द्र को देखकर दिवस बिता दिया, उसके साथ वार्तालाप में सन्ध्या व्यतीत की और कामदेव के द्वारा उत्साहित उसके देहार्पण द्वारा रात्रि व्यतीत कर दी । परन्तु अब भी [मेरे आने की प्रतीक्षा में] रास्ते में आँखें गड़ाए हुई उसको देखने के लिए मेरा मन उत्कण्ठित क्यों हो रहा है ।२३।

यहाँ अब भी 'इस प्रकार की [मार्गदत्तनयनां] उसको देखने के लिए तत्पर मेरा मन क्यों उत्कण्ठित है' इस प्रकार [वाक्य के] समाप्त हो जाने पर भी [कवि ने श्लोक के अन्त में] 'अथवा प्रेमासमाप्तोत्सवम्' प्रेम का उत्सव कभी समाप्त नहीं होता है । यह कहकर ऐसी वस्तु [वाक्य या वाक्यार्थ] का विन्यास कर दिया है जिसने पूर्व वाक्यों में जान-सी डाल दी है ।

यद्यपि इन दोनों [वाक्यों या उदाहरणों] में उस [शब्दार्थ के 'साहित्य' के प्राधान्य से ही वाक्य की रचना की गई है फिर भी [उस रचना में] कवि की प्रतिभा की प्रौढ़ता ही प्रधान रूप से स्थित होती है । [इसलिए 'असारं संसारं' आदि श्लोक में 'मरणशरणं बान्धवजनम्' वाले वाक्यार्थ का शेष वाक्यार्थों के साथ परस्परस्पर्धित्व रूप 'साहित्य' की न्यूनता हो जाने से वह हलका पड़ जाता है और 'तद्वक्त्रेन्दु' आदि श्लोक में कवि प्रतिभा के बल से अर्थ का अर्थान्तर के साथ परस्पर स्पर्धी 'साहित्य' होने से श्लोक में और भी अधिक चमत्कार उत्पन्न हो गया है] ।

---

१. तापस वत्सराज चरितम् १, ६८ ।

शब्दस्यापि शब्दान्तरेण साहित्यविरहोदाहरणं यथा—

चारुतावपुरभूषयदासां　　तामनूननवयौवनयोगः ।
तं पुनर्मकरकेतनलक्ष्मी स्तां मदो दयितसङ्गमभूषः ॥२४॥[1]

दयितसङ्गमस्तामभूषयदिति वक्तव्ये, कीदृशो मदः, दयितसङ्गमो भूषा यस्येति । दयितसङ्गमशब्दस्य प्राधान्येनाभिमतस्य समासवृत्तावन्तर्भूतत्वाद् गुणीभावो न तद्विदाह्लादकारी । दीपकालङ्कारस्य च काव्यशोभाकारित्वेनोपनिबद्धस्य निर्वहणावसरे त्रुटितप्रायत्वात् प्रक्रमभङ्गविहितं सरसहृदयवैरस्यमनिवार्यम् । 'दयितसङ्गतिरेनम्' इति पाठान्तरं सुलभमेव ।

[इस प्रकार 'असारं संसारं' इत्यादि उदाहरण में अर्थ का अर्थान्तर के साथ साहित्य का विरह दिखला कर अब] शब्द का भी दूसरे शब्द के साथ साहित्य के विरह का उदाहरण [दिखलाते हैं] जैसे—

सौन्दर्य ने उन [स्त्रियों] के शरीर को शोभित किया, उस [चारुता] को पूर्णयौवन के योग ने [भूषित किया] और उस [पूर्ण नवयौवन] को कामदेव की लक्ष्मी ने [भूषित किया] और उस [कामदेव की लक्ष्मी] को प्रियसङ्गम से अलंकृत मद ने [भूषित किया] ॥२४॥

[यह श्लोक माघ काव्य के दशम सर्ग का ३३वाँ श्लोक है । इसमें] दयितसङ्गम ने उस [मकरकेतनलक्ष्मी] को भूषित किया यह कहना चाहिए था उसके स्थान पर [मद के] कैसे मद ने, कि दयितसङ्गम [प्रियसङ्गम] जिसका भूषण है [ऐसे मद ने भूषित किया यह कहा है] इसमें प्राधान्येन अभिमत दयितसङ्गम शब्द के समास में अन्तर्भूत हो जाने से गुणीभाव [हो जाता है और वह] काव्यमर्मज्ञों के लिए आह्लादकारी नहीं है ।

और काव्य के शोभातिशयकारी के रूप में उपनिबद्ध दीपकालङ्कार के, अन्त में भानप्राय हो जाने से 'प्रक्रमभङ्ग' से उत्पन्न सरस हृदयों का वैरस्य [का अनुभव] अनिवार्य है । [इस दोष से बचने के लिए] 'दयितसङ्गतिरेनम्' यह पाठान्तर सुलभ ही है । [यदि कवि इस पाठान्तर का प्रयोग करता तो दयितसङ्गमभूषः इस शब्द का अन्य शब्दों के साथ साहित्य का जो विरह अब अनुभव होता है वह न होता] ।

इसका अभिप्राय यह है कि इस श्लोक के अन्तिम चरण की रचना 'तां मदो दयितसङ्गतिरेनम्' इस प्रकार होनी चाहिए थी ।

---

१. शिशुपाल वध १०,३३ ।

कुन्तक ने इस श्लोक में दीपक अलङ्कार माना है। दीपकालङ्कार का लक्षण वामन ने अपनी काव्यालङ्कार सूत्र में वृत्ति में इस प्रकार किया है।

उपमानोपमेयवाक्येषु एका क्रिया दीपकम्।
तत्त्रैविध्यं, आदिमध्यान्तवाक्यवृत्तिभेदात्॥[1]

अर्थात् उपमान और उपमेय वाक्यों में एक क्रिया का योग होने पर 'दीपक' अलङ्कार होता है। 'चारुता वपुरभूषयदासाम्' आदि 'माघ' के श्लोक में पठित भिन्न-भिन्न वाक्यों में उपमानोपमेय भाव-कल्पना करना कठिन है। इसलिए 'वामन' का दीपकालङ्कार का लक्षण वहाँ सुसङ्गत नहीं हो सकता है।

'भामह' ने अपने 'काव्यालङ्कार' में दीपकालङ्कार का लक्षण तो स्पष्ट नहीं किया है, पर उसके भेद आदि का विस्तार से निरूपण किया है—

आदि मध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते।
एकस्यैव त्र्यवस्थत्वादिति तद्भिद्यते त्रिधा॥ २५॥
अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात्।
त्रिभिर्निदर्शनैश्चेदं त्रिधा निर्दिश्यते यथा॥२६॥[2]

इस रूप में दीपक के तीन भेदों का प्रतिपादन कर उनके उदाहरण इस प्रकार दिए हैं—

मदो जनयति प्रीतिं सानङ्गं मानभंगुरम्।
स प्रियासङ्गमोत्कण्ठां साऽसह्यां मनसः शुचम्॥२७॥
मालिनीरंशुकभृतः स्त्रियोऽलंकुरुते मधुः।
हारीतशुकवाचश्च भूधराणामुपत्यकाः॥२८॥
चीरीमतीररण्यानीः सरितः शुष्यदम्भसः।
प्रवासिनाञ्च चेतांसि शुचिरन्तं निनीषति॥२९॥

'भामह' के दिए हुए दीपकालङ्कार के इन उदाहरणों में से भी उपमान उपमेय भाव-कल्पना करना कठिन है। इसलिए यह प्रतीत होता है कि 'भामह' आदि आचार्य दीपकालङ्कार में केवल एक क्रिया के सम्बन्ध को ही आवश्यक मानते हैं। उन अनेक वाक्यों में उपमानोपमेय भाव को आवश्यक नहीं मानते हैं। कुन्तक ने भी इसी भाव को ध्यान में रखकर 'चारुतावपुरभूषयदासां' इत्यादि श्लोक में दीपकालङ्कार का निर्देश किया है। उनका यह उदाहरण भामह के प्रथम उदाहरण से बिलकुल मिलता है।

मम्मट विश्वनाथ आदि नवीन आचार्यों ने जिन अनेक पदार्थों में एक धर्म

१. वामन काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति ४, ३, १८-१९।
२. भामह काव्यालङ्कार ३, २५-२६। ३ वही २८-२९।

द्वयोरप्येतयोरुदाहरणयोः प्राधान्येन प्रत्येकमेकतरस्य साहित्यविरहो व्याख्यातः परमार्थतः पुनरुभयोरेकतरस्य साहित्यविरहोऽन्यतरस्यापि पर्य-

---

का सम्बन्ध हो उन सबका प्रकृत अथवा अप्रकृत दोनों प्रकार का होना दीपकालङ्कार में आवश्यक माना है। मम्मट ने दीपकालङ्कार का लक्षण इस प्रकार किया है—

सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्॥[1]

विश्वनाथ ने दीपक का लक्षण इस प्रकार किया है—

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्॥[2]

यह दीपकालङ्कार के नवीन लक्षण भी उक्त श्लोक में कठिनता से सङ्गत हो सकेंगे। इसलिए मल्लिनाथ ने इस श्लोक में दीपकालङ्कार न मानकर 'एकावली' अलङ्कार माना है। उन्होंने लिखा है—

अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषकत्वादेकावली।
यत्रोत्तरोत्तरेषां स्यात् पूर्वं पूर्वं प्रति क्रमात्॥
विशेषकत्वकथनमसावेकावली मता।
इति तल्लक्षणात्।

कुन्तक ने स्वयं दीपकालङ्कार का लक्षण इस प्रकार दिया है—

औचित्यावहयम्लानं तद्विदाह्लादकारणम्।
अशक्तं धर्ममर्थानां दीपयद्वस्तु दीपकम्॥
एकं प्रकाशकं सन्ति भूयांसि भूयसां क्वचित्।
केवलं पंक्तिसंस्थंवा द्विविधं परिदृश्यते॥[3]

इसी के अनुसार 'अभूषपत्' इस एक पद को अनेक वाक्यों का प्रकाशक मानकर कुन्तक ने यहाँ दीपकालङ्कार निर्धारित किया है।

[अर्थ तथा शब्द के साहित्य विरह के 'असारं संसारं' तथा 'चारुतावपु'०] इन दोनों उदाहरणों में से प्रत्येक [उदाहरण] में एक [अर्थ तथा शब्द] के प्राधान्य से [अर्थ अथवा शब्द के] 'साहित्य' का अभाव दिखलाया है। वास्तव में तो उन दोनों में से किसी एक के साहित्य का अभाव होने पर दूसरे का साहित्य विरह स्वयं ही आ

---

१. का० प्र० १०, १०३।
२. साहित्य दर्पण १०।
३. वक्रोक्तिजीवितम् ३, १६।

वस्यति । तथा चार्थः समथवाचकाऽसद्भावे स्वात्मना स्फुरन्नपि मृतकल्प एवावतिष्ठते शब्दोऽपि वाक्योपयोगिवाच्यासम्भवे वाच्यान्तरवाचकः सन् वाक्यास्य व्याधिभूतः प्रतिभातीत्यलमतिप्रसंगेन ।

प्रकृतन्तु । कीदृशे, बन्धे, 'वक्रकविव्यापारशालिनि' । वक्रो योऽसौ शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकी षट्प्रकारवक्रताविशिष्टः कविव्यापारस्तत्क्रियाक्रमस्तेन शालते श्लाघते यस्तस्मिन् । एवमपि कष्टकल्पनोपहतेऽपि प्रसिद्धव्यतिरेकित्वमस्तीत्याह—'तद्विदाह्लादकारिणि' । तदिति काव्यपरामर्शः । तद्विदन्तीति तद्विदस्तज्ज्ञाः, तेषामाह्लादं करोति यस्तस्मिन्, तद्विदाह्लादकारिणि बन्धे व्यवस्थितौ । वक्रता वक्रताप्रकारास्तद्विदाह्लाकारित्वञ्च प्रत्येकं यथाऽवसरमेवोदाहरिष्यते ॥७॥

एवं काव्यस्य सामान्यलक्षणे विहिते विशेषमुपक्रमते । तत्र शब्दार्थयस्तावत्स्वरूपं निरूपयति—

जाता है । इसलिए [अर्थ को भली प्रकार प्रकाशित करने में] समर्थ शब्द के अभाव में [उत्तम चमत्कारी] अर्थ स्वरूपतः स्फुरित होने पर भी निर्जीव-सा ही रहता है । [इसी प्रकार] शब्द भी वाक्योपयोगी [चमत्कारी] अर्थ के अभाव में [किसी साधारण] अन्य अर्थ का वाचक होकर वाक्य का भारभूत [व्याधिभूत] सा प्रतीत होने लगता है ।

इसलिए [इस प्रसक्तानुप्रसक्त विषय के] अधिक [करने] विस्तार की आवश्यकता नहीं है ।

प्रकृत [कारिका की व्याख्या] तो [इस प्रकार है कि]—किस प्रकार के बन्ध में [शब्द और अर्थ का साहित्य होना चाहिए] 'मनोहर कवि व्यापार से युक्त' [बन्ध] में । वक्र अर्थात् शास्त्रादि में प्रसिद्ध शब्द और अर्थ के उपनिबन्धन से भिन्न, [आगे कही जाने वाली] छः प्रकार की वक्रता से युक्त, जो कवि व्यापार अर्थात् कवि की रचना [क्रिया] का क्रम, उससे जो [बन्ध] शोभित अथवा प्रशंसित होता है उस [बन्ध] में [साहित्य से अवस्थित शब्द तथा अर्थ काव्य कहलाते हैं] । इस प्रकार [लक्षण करने पर] भी कष्ट कल्पना से उपहत [बन्ध] में भी प्रसिद्ध भिन्नत्व हो सकता है [वह भी काव्य कहलाने लगेगा] इसलिए [उसके निवारणार्थ] कहते हैं—'तद्विदाह्लादकारिणि' । तत् इस [पद] से काव्य का ग्रहण होता है । उस [काव्य] को जानते हैं वह 'तद्विद्' अर्थात् काव्यमर्मज्ञ [हुए] । उनको आह्लाद अर्थात् आनन्ददायक जो [बन्ध] उस तद्विदाह्लादकारी बन्ध में व्यवस्थित [शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं] । वक्रता, वक्रता के भेद और तद्विदाह्लादकारित्व को अलग-अलग यथास्थान [आगे उदाहरणों द्वारा] दिखलावेंगे ॥७॥

इस प्रकार काव्य का सामान्य लक्षण कर चुकने के बाद, [काव्य के]

वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि ।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमतयोः ॥८॥

इति एवंविधं वस्तु प्रसिद्धं प्रतीतम् । यो वाचकः स शब्दः, यो वाच्यश्चाभिधेयः सोऽर्थः इति । ननु च द्योतकव्यञ्जकावपि शब्दौ सम्भवतः । तदसंग्रहान्नाव्याप्तिः । यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव । एवं द्योत्यव्यङ्ग्ययोरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचाराद् वाच्यत्वमेव । तस्माद् वाचकत्वं वाच्यत्वं च शब्दार्थयोर्लोके सुप्रसिद्धं यद्यपि लक्षणं, तथाप्यस्मिन्, अलौकिके काव्यमार्गे काव्यवर्त्मनि, अयमेतयोर्वक्ष्यमाणलक्षणः परमार्थः, किमप्यपूर्वं तत्त्वमित्यर्थः ॥८॥

कीदृशमित्याह—

विशेष लक्षण का [निरूपण] प्रारम्भ करते हैं। उनमें से पहिले [काव्य के अङ्गभूत] शब्द तथा अर्थ के स्वरूप का निरूपण करते हैं—

यद्यपि [साधारणतः] वाच्य अर्थ, और वाचक शब्द [होता है यह बात] प्रसिद्ध ही है, फिर भी इस काव्यमार्ग में [केवल वाच्य को अर्थ और केवल वाचक को शब्द नहीं कहते हैं। अपितु] उन [शब्द तथा अर्थ] का वास्तविक अर्थ यह [अगली कारिका में दिखलाया हुआ] है ।८।

इति अर्थात् इस प्रकार की बात प्रसिद्ध है कि जो वाचक होता है वह शब्द होता है और जो वाच्य होता है वह अर्थ होता है। [प्रश्न] द्योतक और व्यञ्जक भी शब्द हो सकते हैं [आपने केवल वाचक को शब्द कहा है। उस वाचक पद से द्योतक तथा व्यञ्जक शब्दों का] उनका संग्रह न होने से अव्याप्ति होगी। [उत्तर] यह नहीं कहना चाहिए। क्योंकि [वाचक शब्दों के समान व्यञ्जक तथा द्योतक शब्दों में भी] अर्थप्रतीतिकारित्व की समानता होने से उपचार [गौणी वृत्ति] से वह [द्योतक तथा व्यञ्जक] दोनों भी वाचक ही [कहे जा सकते] हैं। इसी प्रकार द्योत्य और व्यङ्ग्य दोनों अर्थों में भी बोध्यत्व [प्रत्येयत्व] की समानता [होने] से वाच्यत्व ही रहता है। इसलिए वाचकत्व और वाच्यत्व लोक में [क्रमशः] शब्द तथा अर्थ का प्रसिद्ध लक्षण है, फिर भी इस अलौकिक काव्यमार्ग में अर्थात् कवियों की पद्धति में [केवल वाचकत्व या वाच्यत्व शब्द तथा अर्थ का यथार्थ लक्षण नहीं है अपितु] यह आगे [अगली नवम कारिका में] कहे जाने वाला इन दोनों [शब्दों] का वास्तविक 'अर्थ' अर्थात् कुछ अपूर्व रहस्य है ॥८॥

[वह अपूर्व रहस्य तत्त्व] कैसा है यह [अगली कारिका में] कहते हैं—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ॥९॥

स शब्दः काव्ये यस्तत्समुचितसमस्तसामग्रीकः । कीदृक्, 'विवक्षितार्थैकवाचकः' । विवक्षितो योऽसौ वक्तुमिष्टोऽर्थस्तदेकवाचकः, तस्य एकः केवल एव वाचकः । कथम्, अन्येषु सत्स्वपि । अपरेषु तद्वाचकेषु बहुष्वपि विद्यमानेषु । तथा च, सामान्यात्मना वक्तुमभिप्रेतो योऽर्थस्तस्य विशेषाभिधायी शब्दः सम्यग् वाचकतां न प्रतिपद्यते । यथा—

कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारैः
रत्नान्यमूनि मकराकर मावमंस्थाः ।
किं कौस्तुभेन भवतो विहितो न नाम
याञ्चाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥२५॥[1]

[पर्यायवाची] अन्य [शब्दों] के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक [शब्द ही वस्तुतः] शब्द [कहलाता] है [अर्थात् अनेक पर्यायवाचक शब्दों के होते हुए भी उन सब की अपेक्षा विलक्षण रूप से जो अर्थ को प्रकाशित कर सके केवल वही शब्द काव्यमार्ग में 'शब्द' कहा जाता है। इसी प्रकार] सहृदयों को आनन्दित करने वाला अपने [स्पन्द] स्वभाव से सुन्दर [पदार्थ ही काव्यमार्ग में वस्तुतः] 'अर्थ' [शब्द से व्यवहार किये जाने योग्य होता] है ।९।

काव्य में [वस्तुतः] शब्द वह है जो उस [काव्य] के योग्य समस्त सामग्री से युक्त है । कैसा, कि, विवक्षित अर्थ का जो अकेला वाचक हो [अन्य कोई शब्द जिस अर्थ को प्रकट न कर सके उस अर्थ को प्रकाशित करने वाला] विवक्षित अर्थात् [कवि] जिसको कहना चाहता है उसका अद्वितीय वाचक, उसका केवल अकेला [एकमात्र] वाचक [पद ही काव्य में 'शब्द' कहा जा सकता है] । कैसे, अन्य [अनेक समानार्थक] शब्दों के रहते हुए भी । उस अर्थ के वाचक अन्य बहुत से [शब्दों] के विद्यमान होने पर भी । [जो कवि के विवक्षित अर्थ को पूर्ण रूप से कह सके वही 'शब्द' कहलाता है] इसलिए सामान्य रूप से जो अर्थ विवक्षित है उसके लिए विशेष [अर्थ] का कथन करने वाला शब्द भली प्रकार से वाचक [रूप से प्रयुक्त] नहीं हो सकता है । जैसे—

हे मकराकर [समुद्र] इन [अपने भीतर स्थित बहुमूल्य] रत्नों को, लहरों द्वारा चलाए गये पत्थरों के कठोर प्रहारों से तिरस्कृत मत करो । क्या [इन रत्नों में से अकेले एक] 'कौस्तुभ' [रत्न] ने ही पुरुषोत्तम [विष्णु भगवान्] को भी तुम्हारे आगे याचना के लिए हाथ फैलाने वाला नहीं बना दिया । [अर्थात् उन रत्नों में से

---

१ भल्लट शतक ६२, सुभाषितावली सं० ८६६ में इसको भागवत त्रिविक्रम का श्लोक कहा है । काव्य प्रकाश पृ० ३९७ पर भी उद्धृत हुआ है ।

अत्र रत्नसामान्यात्कर्षाभिधानमुपक्रान्तम्। 'कौस्तुभेन' इति रत्नविशेषाभिधायी शब्दस्तद्विशेषोत्कर्षाभिधानमुपसंहरतीति प्रक्रमोपसंहारवैषम्यं न शोभातिशयमावहति।

न चैतद् वक्तुं शक्यते, यः कश्चिद् विशेषे गुणग्रामगरिमा विद्यते स सर्वः सामान्येऽपि सम्भवत्येवेति। यस्मात्—

वाजिवारणलोहानां काष्ठपाषाणवाससाम्।
नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम् ॥२६॥[1]

तस्मादेवंविधे विषये सामान्याभिधाय्येव शब्दः सहृदयहृदयहारितां प्रतिपद्यते। तथा चास्मिन् प्रकृते पाठान्तरं सुलभमेव—

'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' इति।

अकेले 'कौस्तुभ' के कारण ही पुरुषोत्तम विष्णु भगवान् तुम्हारे सामने याचक के समान हाथ फैला कर खड़े होते हैं। अतः जिन रत्नों के कारण तुमको इतना गौरव प्राप्त होता है उनका तिरस्कार मत करो] ।२५।

यहाँ सामान्यतः [सब] रत्नों के उत्कर्ष का निरूपण प्रारम्भ किया था किन्तु [अन्त में] 'कौस्तुभेन' कौस्तुभ [रत्न विशेष] ने [यह कहकर] इस रत्न विशेष को कथन करने वाले [कौस्तुभ] शब्द से उन [रत्नों] में से विशेष [रत्न] का कथन करके उसका उपसंहार किया है। इसलिए उपक्रम और उपसंहार का वैषम्य शोभातिशय को उत्पन्न नहीं करता है। [इसलिए यहाँ रत्न विशेष वाचक कौस्तुभ पद का प्रयोग उचित नहीं है। उसके स्थान पर रत्न सामान्य के वाचक किसी शब्द का प्रयोग ही किया जाना चाहिए था उसके न होने से यह पद्य 'भग्नप्रक्रमता' दोष से युक्त हो गया है]।

और यह नहीं कहा जा सकता है कि विशेष [अर्थ] में जो कुछ गुण-गरिमा है वह सब सामान्य [अर्थ] में भी हो ही सकता है। [इसलिए सामान्य वाचक शब्द के स्थान पर विशेष वाचक कौस्तुभादि शब्द का प्रयोग दोषाधायक नहीं है।] क्योंकि, [तंत्राख्यायिका नामक ग्रंथ में कहा है]—

घोड़ा, हाथी, धातु [लोह], लकड़ी, पत्थर, कपड़ा, स्त्री, पुरुष और जल [आदि समस्त पदार्थों] का [अपने ही सजातीय अन्य पदार्थ की अपेक्षा] अन्तर और महान् अन्तर होता है ॥२६॥

इसलिए इस प्रकार के [कल्लोलवेल्लित आदि श्लोक के सदृश] स्थलों में सामान्य [रत्न आदि] का बोधक शब्द ही सहृदयों का हृदयहारी हो सकता है [हृदयहारित्व को प्राप्त करता है]। इसलिए प्रकृत [कल्लोलवेल्लित आदि श्लोक]

---

१. तन्त्राख्यायिका १,४०; सुभाषित रत्नभाण्डागार पृ० १७०।

यत्रविशेषात्मना वस्तु प्रतिपादयितुमभिमतं तत्र विशेषाभिधायकमेवाभिधानं निबध्नन्ति कवयः। यथा—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमतो कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥२७॥[1]

अत्र परमेश्वरवाचकशब्दसहस्त्रसम्भवेऽपि 'कपालिनः' इति बीभत्सरसालम्बनविभाववाचकः शब्दो जुगुप्सास्पदत्वेन प्रयुज्यमानः कामपि वाचकवक्रतां विदधाति। 'सम्प्रति' 'द्वयं' चेत्यतीव रमणीयम्। यत्किल पूर्वमेका सैव दुर्व्यसनदूषितत्वेन शोचनीया सञ्जाता, सम्प्रति पुनस्त्वया तस्यास्तथाविधदुरध्यवसायसाहायकमिवारब्धमित्युपहस्यते। 'प्रार्थना' शब्दोऽप्यतितरां रमणीयः, यस्मात् काकतालीययोगेन तत्समागमः कदाचिन्न वाच्यतावहः।

में [विशेष रत्न वाचक 'कौस्तुभ' शब्द के स्थान पर सामान्य वाचक] दूसरा पाठ भी मिल ही सकता है। [अर्थात् तीसरे चरण को बदलकर इस प्रकार लिखना उचित होगा]—

एकेन किं न विहितो भवतः स नाम,

क्या [उन अनेक रत्नों में से अकेले] एक ही [कौस्तुभ नामक रत्न] ने उस [पुरुषोत्तम विष्णु भगवान्] को भी तुम्हारा [सामने हाथ फैलाने वाला] याचक नहीं बना दिया है।

और जहाँ विशेष रूप से वस्तु का प्रतिपादन करना अभिमत हो वहाँ कवि लोग विशेष [अर्थ] के अभिधायक [शब्द] को ही प्रयुक्त, [उपनिबद्ध] करते हैं। जैसे—

अब इस समय उस 'कपाली' [कपालों को माला रूप में धारण करने वाले शिव] के समागम की प्रार्थना से एक तो कलामय [चन्द्रमा] की वह सुन्दर कला और दूसरी इस लोक के नेत्रों की कौमुदी रूप तुम [पार्वती] यह दोनों [वस्तुएँ] शोचनीयता को प्राप्त हो रही हैं। ।२७।

[यह महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव नामक काव्य का ५, ७१ श्लोक है। शिव की प्राप्ति के लिए तपस्या करती हुई पार्वती के समीप वटुवेषधारी शिव आकर उसको शिव की ओर से विमुख करने के लिए कह रहे हैं] यहाँ शिव [परमेश्वर] के वाचक सहस्त्रों शब्दों के होने पर भी 'कपालिनः' यह वीभत्स रस के आलम्बन विभाव का वाचक शब्द [शिव के प्रति] घृणा के व्यञ्जक रूप से उपनिबद्ध होकर कुछ अपूर्व शब्द-सौन्दर्य

---

१. कुमारसम्भव ५, ७१।

'प्रार्थना' पुनरत्रात्यन्यन्तं कौलीनकलङ्ककारिणी । 'सा च' 'त्वञ्च' इति द्वयोरप्यनुभूयमानपरस्परस्पर्धिलावण्यातिशयप्रतिपादनपरत्वेनोपात्तम् । 'कलावतः,' 'कान्तिमती' इति च मत्वर्थीयप्रत्ययेन द्वयोरपि प्रशंसा प्रतीयत इत्येतेषां प्रत्येकं कश्चिदप्यर्थः शब्दान्तराभिधेयतां नोत्सहते ।

[कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम् । यस्मात् प्रतिभायां तत्कालोल्लिखितेन केनचित्परिस्पन्देन परिस्फुरन्तः पदार्थाः प्रकृतप्रस्तावसमुचितेन केनचिदुत्कर्षेण वा समाच्छादितस्वभावाः सन्तो विवक्षाविधेयत्वेनाभिधेयतापदवीमवतरन्तस्तथाविधविशेषप्रतिपादनसमर्थेनाभिधानेनाभिधीयमानाश्चेतनचमत्कारितामापद्यन्ते ।] यथा—

[वाचकवक्रता] को उत्पन्न कर रहा है । [श्लोक में] 'सम्प्रति, और 'द्वयं' [यह दोनों पद] भी अत्यन्त सुन्दर हैं । क्योंकि पहिले तो अकेली वह [चन्द्रमा की कला] ही [कपाली के समागम की प्रार्थना रूप] दुर्व्यसन से दूषित होने से शोचनीया थी और अब तुमने भी उसके उस प्रकार के दुर्भाग्यपूर्ण कार्य में सहायता देना प्रारम्भ कर दिया, इस प्रकार [ब्रह्मचारी वटु द्वारा पार्वती का] उपहास किया जा रहा है । [श्लोक में प्रयुक्त] 'प्रार्थना' शब्द भी अत्यन्त रमणीय है । क्योंकि काकतालीय न्याय से [अकस्मात्] उस [कपाली शिव] का समागम कदाचित् निन्दनीय न होता । परन्तु उस [कपाली] के विषय में 'प्रार्थना' [वस्तुतः] कुलीनता के लिए अत्यन्त कलङ्ककारिणी है । [यह भाव प्रार्थना-पद से व्यक्त होकर काव्यशोभा को अपूर्वता प्रदान कर रहा है] । 'सा च' 'त्वं च' [श्लोक के यह दोनों पद] दोनों [चन्द्रमा की कान्तिमती कला और पार्वती] के अनुभूयमान परस्परस्पर्धी लावण्यातिशय के प्रतिपादक रूप से गृहीत हुए हैं [और बड़े चमत्कारजनक हैं] । 'कलावतः' और 'कान्तिमती' [इन दोनों पदों में] इस 'मत्वर्थीय प्रत्यय' से दोनों को प्रशंसा प्रतीत हो रही है । इसलिए इन [उपर्युक्त समस्त पदों] में से किसी भी [शब्द के] अर्थ को [उसके पर्यायवाची] किसी अन्य शब्द से नहीं कहा जा सकता है । [उस विशिष्ट अर्थ का वाचक केवल वही शब्द है जिसे कवि ने स्वयं श्लोक में प्रयुक्त किया है । वही 'विवक्षितार्थैकवाचकः' शब्द काव्य में 'शब्द' पद से कहा जाता है] ।

[इसलिए] कवि के विवक्षित विशेष [अर्थ] के कथन करने की क्षमता ही वाचकत्व अर्थात् शब्द का लक्षण है । जिससे उस [काव्य-निर्माण के] समय [कवि की] प्रतिभा में उल्लिखित [विशेष रूप से प्रतिभात] किसी विशेष स्वभाव से युक्त स्फुरित होते हुए, अथवा प्रकृत प्रकरण के योग्य किसी अपूर्व गौरव से समाच्छादित होते हुए पदार्थ [कवि की] विवक्षा के अनुगत [विधेय] रूप से वाच्य हुए उस प्रकार के विशेष । [अर्थ] के प्रतिपादन में समर्थ शब्द से कथित होकर सहृदयों [चेतन] के

संरम्भः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य यः
सर्वस्यैव स जातिमात्रविहितो हेवाकलेशः किल ।
इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेऽप्यसंरम्भवान्
योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं यात्वम्बिकाकेसरी ॥२८॥

अत्र करिणां 'कीट' व्यपदेशेन तिरस्कारः, तोयदानां च 'शकल' शब्दाभिधानेनानादरः। 'सर्वस्य' इति यस्य कस्यचित् तुच्छतरप्रायस्येत्यवहेला, जातेश्च 'मात्र'शब्दविशिष्टत्वेनावलेपः । हेवाकस्य 'लेश' शब्दाभिधानेनाल्पताप्रतिपत्तिरित्येते विवक्षितार्थैकवाचकत्वं द्योतयन्ति । 'घटाबन्ध' शब्दश्च प्रस्तुतमहत्त्वप्रतिपादनपरत्वेनोपात्तस्तन्निबन्धनतां प्रतिपद्यते ।

विशेषाभिधानाकांक्षिणः पुनः पदार्थस्वरूपस्य तत्प्रतिपादनपरविशेषणशून्यतया शोभाहानिरुत्पद्यते । यथा—

लिए चमत्कार जनक होते हैं । जैसे—

हाथी रूप [तुच्छ] कीड़े अथवा मेघ के [क्षुद्र] टुकड़े के [शब्द को सुनकर उसके] उद्देश्य से सिंह का जो क्रोध है वह [सिंहत्व] जातिमात्र से उत्पन्न सभी [सिंहों] का साधारण स्वभाव है । इसलिए [यह सोचकर] दिग्गजों और प्रलयकाल के मेघों के घटाबन्धों में भी संरम्भ [क्रोध] न करने वाला जो यह पार्वती [अम्बिका] का सिंह है वह और कहाँ अधिक चमकेगा । [और कहाँ अधिक संरम्भ को प्राप्त करेगा] ।२८।

इस [उदाहरण] में हाथियों को 'कीट' कहकर [उनके प्रति] तिरस्कार [प्रदर्शित किया गया है] और मेघों का 'शकल' [टुकड़ा] शब्द से अनादर [सूचित किया गया है] । 'सर्वस्य' [पद के प्रयोग] से जिस किसी अत्यन्त तुच्छप्राय इस [के सूचन] से [उसके प्रति] अवहेलना [निबद्ध की गई है] । जाति के 'मात्र' शब्द से विशिष्ट [करके जातिमात्रविहितो कथन] होने से [अम्बिकाकेसरी का] अभिमान [सूचित होता है] । 'हेवाक' [स्वभाव] का लेश शब्द के कथन से अल्पता [तुच्छता] की प्रतीति [होती है] इसलिए यह [सब शब्द अपने] 'विवक्षतार्थैक वाचकत्व' को द्योतित करते हैं । और 'घटाबन्ध' शब्द प्रस्तुत [अम्बिका-केसरी के] महत्त्व के प्रतिपादन के अभिप्राय से प्रयुक्त होकर उस [महत्त्व प्रतीति] का कारण होता है । [यहाँ विशिष्ट अर्थों के अभिधान के लिए कवि ने विशिष्ट शब्दों का ही प्रयोग किया है] ।

विशेष रूप से कथन के योग्य [आकांक्षी] पदार्थ स्वरूप के, उस [विशेष अर्थ] के प्रतिपादन में समर्थ विशेषणों से शून्य होने से [काव्य की] शोभा की हानि होती है । [इसका उदाहरण देते हैं] जैसे—

यत्रानुल्लिखिताख्यमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे—
रुत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा।
याताः प्राणभृतां मनोरथगतीरुल्लंघ्य यत्सम्पदः
तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम् ॥२६॥[1]

अत्र 'आभास' शब्दः स्वयमेव मात्रादिविशिष्टत्वमभिलषँल्लक्षयते। पाठान्तरम्—'छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेस्तस्याश्मतैवोचिता'। इति। एतच्च वाचकवक्रताप्रकारस्वरूपनिरूपणावसरे प्रतिपदं प्रकटीभविष्यतीत्यलमतिप्रसङ्गेन।

अर्थश्च वाच्यलक्षणः कीदृशः? काव्ये यः 'सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः'। सहृदयाः काव्यार्थविदस्तेषामाह्लादमानन्दं करोति यस्तेन स्वस्पन्देन

उस [चिन्तामणि नामक मणि विशेष] के होने पर ब्रह्मा की यह सारी रचना [संसार] नाम लेने योग्य भी नहीं है, जिसके उत्कर्ष की अवधि [चिन्तामणि अमुक वस्तु से उत्कृष्ट है इस प्रकार उसके उत्कर्ष की सीमा] की कल्पना करना भी [उसके] अत्यन्त तिरस्कार की चरम सीमा है। और जिस का वैभव प्राणियों के मनोरथ [कल्पना] की पहुँच से भी परे है [जिसके सामर्थ्य तथा वैभव को प्राणी सोच भी नहीं सकते हैं] जिसकी एक झलक [आभासमात्र] से ही मणि बन जाने वाले पत्थरों [के गणना प्रसङ्ग] में उस [चिन्तामणि नामक] मणि [विशेष] को [अन्य मणियों के समान] पत्थर मानना ही उचित है। [यह सोपहास व्यङ्ग्य वचन है। अर्थात् अन्य मणियों के समान चिन्तामणि को भी एक पत्थर समझ लेना अनुचित है। यह अन्योक्ति है। किसी अत्यन्त विशिष्ट गुणयुक्त कार्यकर्ता को भी अन्य सबके समान एक साधारण सेवक या कार्यकर्त्ता मान लेना उचित नहीं है। उसके गुणों का यथार्थ और उचित आदर होना चाहिए] ।२६।

यह श्लोक काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में उदाहरण संख्या २७३ पर उद्धृत हुआ है। वहाँ श्लोकारम्भ में तत्र के स्थान पर यत्र पाठ है। वक्रोक्तिजीवितम् में श्लोक का आरम्भ तत्र पाठ से हुआ है। परन्तु यत्र का पाठ ही अधिक उपयुक्त है। इसलिए मूल में हमने काव्य प्रकाश के समान 'यत्र' पाठ ही रखा है।

यहां [इस उदाहरण में प्रयुक्त] आभास शब्द स्वयं [अपूर्ण होने से] मात्र [आभासमात्र] आदि विशिष्टत्व को चाहता हुआ दिखाई देता है। [अर्थात् आभासमात्र से पत्थरों को मणि बना देने वाले, इस प्रकार मात्र शब्द के प्रयोग करने पर

---

१. काव्यप्रकाश पृ० ३६४ पर भी उद्धृत है।

आत्मीयेन स्वभावेन सुन्दरः सुकुमारः। तदेतदुक्तं भवति—यद्यपि पदार्थस्य नानाविधधर्मखचितत्त्वं सम्भवति तथापि तथाविधेन धर्मेण सम्बन्धः समाख्यायते यः सहृदयहृदयाह्लादमाधातुं क्षमते। तस्य च तदाह्लादसामर्थ्यं सम्भाव्यते येन काचिदेव स्वभावमहत्ता रसपरिपोषाङ्गत्वं वा व्यक्तिमासादयति। यथा—

ही वाक्य में सौन्दर्य आ सकता है। उसका प्रयोग न होने से काव्य-सौन्दर्य की हानि हो रही है। अतएव उसके स्थान पर] दूसरा पाठ—

छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम्।

यह [परिवर्तित पाठ अधिक उपयुक्त] है। यह [सब] वाचक वक्रता उसके भेद और स्वरूप के निरूपण के अवसर पर प्रतिपद [स्वयं] प्रकट हो जायगा। इसलिए [यहाँ] अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

यहाँ तक काव्यमार्ग में किस प्रकार का शब्द वस्तुतः 'शब्द' कहा जा सकता है, इस बात का प्रतिपादन किया है। अब कारिका के उत्तरार्द्ध में उसी प्रकार के 'अर्थ' का निरूपण करते हैं—

और वाच्य रूप अर्थ कैसा [काव्य में अभिप्रेत है]। काव्य में जो सहृदयों के हृदयों का आह्लादकारी अपने स्वभाव से सुन्दर हो। सहृदय अर्थात् काव्य के मर्मज्ञ 'उनके आह्लाद अर्थात् आनन्द को करने वाला जो स्वस्पन्द अर्थात् अपना स्वभाव उससे सुन्दर' अर्थात् सुकुमार। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यद्यपि पदार्थ नानाविध धर्म से युक्त हो सकता है फिर भी उस प्रकार के धर्म से [उसका] सम्बन्ध [काव्य में] वर्णन किया जाता है जो [धर्म विशेष] सहृदयों के हृदय में आनन्द को उत्पन्न करने में समर्थ हो सकता है। और उस [धर्म] में ऐसी सामर्थ्य सम्भव होती है जिससे कोई अपूर्व स्वभाव की महत्ता अथवा रस को परिपुष्ट करने की क्षमता [अङ्गता] अभिव्यक्ति को प्राप्त करती है। जैसे—

यह श्लोक वराहमिहिर के सदुक्तिकर्णामृतम् नामक ग्रन्थ में तथा सुभाषितरत्नभाण्डागार में सङ्कलित हुआ है। परन्तु उसका रचयिता कौन है यह नहीं कहा जा सकता है। सदुक्तिकर्णामृतम् में 'खरकुहरविशत्तोयतुच्छेषु' यह पाठान्तर पाया जाता है।

दंष्ट्राविष्टेषु सद्यः शिखरिषु न कृतः स्कन्धकण्डूविनोदः
सिन्धुष्वङ्गावगाहः खुरकुहरगलत्तुच्छतोयेषु नाप्तः।
लब्धाः पातालपङ्के न लुठनरतयः पोत्रमात्रोपयुक्ते
येनोद्धारे धरित्र्याः स जयति विभुताविघ्नितेच्छो वराहः ॥ ३० ॥[1]

अत्र च तथाविधः पदार्थपरिस्पन्दमहिमा निबद्धो यः स्वभावसम्भविनस्तत्परिस्पन्दानन्तरस्य संरोधसम्पादनेन स्वभावमहत्तां समुल्लासयन् सहृदयाह्लादकारितां प्रपन्नः।

यथा च—

[वराहावतार के समय] जिस [वराह रूपधारी विष्णु भगवान्] ने दाँत [के लगने] से ही तुरन्त चूर्ण हो जाने वाले पर्वतों पर कन्धे की खुजली नहीं मिटाई। खुर के कुहरों में ही जिनका तुच्छ [अति स्वल्प] पानी समा गया है ऐसे समुद्रों में स्नान [भी] नहीं किया और केवल पोतने योग्य [स्वल्प] पाताल की पङ्क में लोटने का आनन्द [भी] नहीं उठा पाया। अपने विभुत्व के कारण [वराहजीवनोचित जलावगाहन, पङ्कलोटन आदि विषय में] अपूर्ण कामना वाले वह वराह [रूपधारी विष्णु भगवान्] सब से उत्कृष्ट हैं ॥३०॥

यहाँ उस प्रकार की वराहावतार का स्वाभाविक महिमा वर्णित है जो [वराह के] स्वाभाविक [स्कन्धघर्षण, जलावगाहन, और पङ्कलुठन आदि] अन्य व्यापारों के निरोध द्वारा [वराह रूपधारी विष्णु भगवान् की] स्वाभाविक महत्ता को प्रकट करता हुआ सहृदयों के हृदय [के आह्लादकारित्व को प्राप्त हो रहा है] का आह्लादकारी हो रहा है।

यहाँ गद्यभाग में वक्रोक्तिजीवितम् के पूर्व संस्करण में 'निबद्धोदयः' पाठ छपा है। उसकी अपेक्षा 'निबद्धो यः' यह पाठ अधिक अच्छा है।

और जैसे [इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण निम्न पद्य है]

यह श्लोक महाकवि कालिदास कृत रघुवंश के १४वें सर्ग का ७०वाँ श्लोक है। उसमें लक्ष्मण के द्वारा वाल्मीकि आश्रम के समीप सीता को छोड़ दिये जाने के बाद, सीता के रुदन को सुनकर उस रोने की आवाज़ का अनुसरण करते हुए वाल्मीकि मुनि के उसके पास जाने का वर्णन है। कवि लिखता है—

---

१. 'सदुक्ति कर्णामृत में वराह मिहिर के नाम से दिया है।

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी मुनिः कुशेध्माहरणाय यातः ।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥ ३१ ॥[1]

अत्र कोऽसौ मुनि वाल्मीकिरिति पर्यायपदमात्रे वक्तव्ये परमकारुणिकस्य निषादनिर्भिन्नशकुनिसन्दर्शनमात्रसमुत्थितः शोकः श्लोकत्वमभजत यस्येति तस्य तदवस्थजनकराजपुत्रीदर्शनविवशवृत्तेरन्तःकरणपरिस्पन्दः करुणरसपरिपोषाङ्गतया सहृदयहृदयाह्लादकारी कवेरभिप्रेतः । यथा च—

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे विद्धि मामम्बुवाहं
तत्सन्देशाद्धृदयनिहितादागतं त्वत्समीपम् ।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ।३२।[2]

कुश और समिधाओं के लाने के लिए निकले हुए [वाल्मीकि] मुनि रोने की आवाज [जिधर से आ रही थी उस] का अनुसरण करते हुए उसके पास पहुँचे । जिन [वाल्मीकि मुनि] का निषाद के द्वारा मारे गये [क्रौञ्च] पक्षी को देखने से उत्पन्न हुआ शोक [मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः । यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ इत्यादि प्रथम] श्लोक के रूप में परिणत हुआ ॥३१॥

यहाँ वह कौन से मुनि थे [इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए] वाल्मीकि [मुनि] केवल इस नाम के कथन करने के अवसर पर 'जिस परम कारुणिक का निषाद द्वारा मारे गये [क्रौञ्च] पक्षी के दर्शनमात्र से उत्पन्न शोक, श्लोकत्व को प्राप्त हो गया,' उनका, उस प्रकार की [पूर्णगर्भा और वन में परित्यक्ता] अवस्था वाली जनकराजपुत्री [सीता] के दर्शन से विवशवृत्ति, अन्तःकरण का व्यापार [अथवा स्वभाव । कुन्तक 'परिस्पन्द' शब्द का प्रयोग स्वभाव अर्थ में बहुत करते हैं ।] करुणरस के परिपोषण में सहायक [अङ्ग] होकर सहृदयहृदयाह्लादकारी [हो यह बात इस श्लोक के निर्माता महाकवि कालिदास को] कवि को अभिमत है ।

[इसी प्रकार का तीसरा उदाहरण महाकवि कालिदास के मेघदूत से निम्न प्रकार दिया जा सकता है ।] और जैसे—

हे सौभाग्यवती [सुहागिन] मुझे [अपने] पति का, हृदय में रखे हुए [अर्थात् पत्र रूप में नहीं मौखिक] उसके सन्देश [को तुम्हारे पास पहुँचाने के प्रयोजन] से तुम्हारे समीप आया हुआ, अम्बुवाह [मेघ, नामक] मित्र समझो। जो मार्ग में विश्राम करने वाले प्रवासियों के समूहों को अपनी प्रबल और मधुर [गर्जन की] ध्वनि से, [अपनी प्रियतमा रूप] अबलाओं की [पतियों के प्रवास-काल में बिना शृङ्गार के बाँधे हुए केशों की] वेणी को खोलने [और पति के आगमन पर यथोचित शृङ्गार करने] के लिए उत्सुक [बनाकर] घर भेजता है ॥३२॥

---

१. रघुवंश १४, ७०। २. मेघदूत ५६ ।

अत्र प्रथममामन्त्रपदार्थस्तदाश्वासकारिपरिस्पन्दनिबन्धनः । 'भर्तुर्मित्रं मां विद्धि' इत्युपादेयत्वमात्मनः प्रथयति। तच्च न सामान्यम्, 'प्रियम्' इति विश्रम्भकथापात्रताम् । इति तामाश्वास्य उन्मुखीकृत्य च तत्सन्देशात् त्वत्समीपमागमनमिति प्रकृतं प्रस्तौति। 'हृदयनिहितात्' इति स्वहृदयनिहितं सावधानत्वं द्योत्यते। ननु चान्यः कश्चिदेवंविधव्यवहारविदग्धबुद्धिः कथं न नियुक्त इत्याह, ममैवात्र किमपि कौशलं विजृम्भते । 'अम्बुवाहम्' इत्यात्मनस्तत्कारिताभिधानं द्योतयति। यः 'प्रोषितानां वृन्दानि त्वरयति,' सञ्जातत्वराणि करोति। कीदृशानां, 'श्राम्यतां,' त्वरायामसमर्थानामपि। 'वृन्दानि' इति बाहुल्यात् तत्कारिताभ्यासं कथयति । केन, 'मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिः'। माधुर्यरमणीयैः शब्दैः, विदग्धदूत

यहाँ [इस श्लोक में] प्रथम सम्बोधन पद [अविधवे] का अर्थ उस [यक्ष की पत्नी] को आश्वासन देने वाले व्यापार का कारण होता है । [अविधवे शब्द से यह सूचित होता है कि तुम्हारा पति जीवित है । अतः यह सर्व-प्रथम सम्बोधन पद यक्षपत्नी के लिए अत्यन्त आश्वासदायक है]। 'मुझे [अपने] पति का मित्र समझो' यह [वाक्य] अपनी [मेघ की] उपादेयता [और विश्वसनीयता] को सूचित करता है। और वह [मित्र] भी सामान्य नहीं [अपितु] 'प्रिय' [मित्र] इस [पद] से विश्रम्भकथा [सब प्रकार की गोप्य कथा] की [भी] पात्रता को सूचित करता है । इस प्रकार [प्रथम चरण में] उस [वियोगिनी यक्षपत्नी] को आश्वासन देकर और [अपनी बात सुनने के लिए] उन्मुख करके 'उसके सन्देश से तुम्हारे पास आया हूं' इस [कथन] से प्रकृत [विषय] को प्रस्तुत करता है। 'हृदयनिहित' पद से हृदय में स्थित [या सन्देश का हृदयनिहितत्व अर्थात् पत्र रूप नहीं अपितु मौखिकत्व और] सावधानत्ता द्योतित होती है। [यक्षपत्नी के मन में शङ्का हो सकती है कि] इस प्रकार के [सन्देश ले जा सकने के] व्यवहार में निपुण मति वाला कोई अन्य व्यक्ति [इस सन्देश लाने के कार्य में] क्यों नियुक्त नहीं किया। [तुमको ही क्यों भेजा है ?] इस [शङ्का के निवारण] के लिए कहते हैं, [मुझे जो इस कार्य के लिए भेजा गया है] इसमें कुछ मेरा ही कौशल कारण है। [मेरे समान सुन्दर रूप में और जल्दी, अन्य कोई इस कार्य को नहीं कर सकता है। इस बात का उपपादन करने के लिए आगे हेतु देता है] 'अम्बुवाह' इस [पद] से [वहन करना ही मेरा कार्य है। जब जल को ले जा सकता हूँ तो सन्देश को वहन करने की क्षमता भी मुझ में है। इस प्रकार] अपनी तत्कारिता [सन्देशवहनकारिता] और [उसके साथ ही] नाम को सूचित करता है। 'जो प्रवासियों के समूहों' [हजारों प्रवासियों] को 'त्वरयति' जिनको [घर] जाने की जल्दी पड़ गई है इस प्रकार का कर देता है। किस प्रकार के [प्रवासियों को, कि] 'विश्राम करते हुए' [थकावट के कारण] जल्दी करने में असमर्थ होने पर भी

प्ररोचनावचनप्रायैरित्यर्थः। क्व, 'पथि' मार्गे। यदृच्छया यथा कथाञ्चिदहमे-तदाचरामीति। किं पुनः प्रयत्नेन सुहृत्प्रेमनिमित्तं संरब्धबुद्धिं न करोमीति। कीदृशानि वृन्दानि, 'अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि'। अबलाशब्देनात्र तत्प्रेयसी-विरहवैधुर्यासहत्वं भण्यते। तद्वेणिमोक्षोत्सुकानीति तेषां तदनुरक्तचित्त-वृत्तित्वम्।

तदयमत्र वाक्यार्थः। विधिविहितविरहवैधुर्यस्य परस्परानुरक्तचित्तवृत्ते-र्यस्य कस्यचित् कामिजनस्य समागमसौख्यसम्पादनसौहार्दे सदैव गृहीत-व्रतोऽस्मीति। अत्र यः पदार्थपरिस्पन्दः कविनोपनिबद्धः प्रबन्धस्य, 'मेघदूतत्त्वे' परमार्थतः स एव जीवितमिति सुतरां सहृदयहृदयाह्लादकारी।

[मेघ की आवाज सुनते ही उठकर घर को भागने के लिए तैयार हो जाते हैं]। 'वृन्दानि' इस [पद] से बाहुल्य [सूचन] द्वारा उस क्रिया के करने के अभ्यास को सूचित करता है। किस से [वृन्दानि त्वरयति] 'गम्भीर और मधुर ध्वनियों से,' माधुर्य से, रमणीय शब्दों से, चतुर दूत के प्ररोचना शब्दों के समान [अर्थात् मानों कोई दूत उन प्रवासियों के पास आकर उनको अपनी पत्नी के पास चलने के लिए तैयार कर रहा हो। उसके शब्दों के समान मधुर अपने गर्जन के शब्द से मैं उन विश्राम करते हुए पथिकों को घर जाने के लिए उत्सुक कर देता हूँ] यह अभिप्राय हुआ। कहाँ [विश्राम करते हुए, कि] 'मार्ग में'। [अर्थात् उनको उत्सुक करने के लिए मुझे किसी स्थान विशेष की आवश्यकता नहीं होती है अपितु] स्वेच्छा से जैसे [भी हो] तैसे यह [कार्य] कर सकता हूँ। फिर [अपने] मित्र [यक्ष] के प्रेम [की पूर्ति] के लिए प्रयत्न से उत्सुक [संरब्ध बुद्धि] क्यों नहीं कर सकता हूँ। किस प्रकार के वृन्दों को। [अपनी वियोगिनी पत्नी रूप] 'अबलाओं के वेणी को खोलने के लिए उत्सुक' [वृन्दों को]। 'अबला' शब्द से यहाँ उनकी प्रियतमाओं के विरह-दुःख को सहन करने की अक्षमता को सूचित किया गया है। 'तद्वेणिमोक्षोत्सुकानि' इस [पद] से उन [प्रवासियों] का उन [वियोगिनी पत्नियों] के प्रति अनुरक्तचित्तत्व [सूचित किया गया है]।

इस प्रकार श्लोक [वाक्य] का यह अभिप्राय हुआ कि [तुम दोनों के समान] भाग्यवश विरह-दुःख भोगने वाले और परस्पर अनुरक्त चित्त सभी प्रेमीजनों के समागम सुख के सम्पादन रूप प्रिय कार्य को करने का मैंने सदैव से व्रत लिया हुआ है। यहाँ [इस श्लोक में] कवि ने जो [मेघरूप] पदार्थ का स्वभाव वर्णित किया है, वस्तुतः [इस मेघदूत नामक] काव्य के मेघदूतत्व [मेघदूत इस नामकरण] में वही [कारण] जीवन है। इसलिए [यह अर्थ] स्वयं ही सहृदयों के लिए अत्यन्त आनन्ददायक है।

न पुनरेवंविधो यथा—

सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी,
सीता जवात् त्रिचतुराणि पदानि गत्वा।
गन्तव्यमद्य कियदित्यसकृद् ब्रुवाणा,
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥३३॥[1]

अत्र असकृत् प्रतिक्षणं, कियदद्य गन्तव्यमित्यभिधानलक्षणः परिस्पन्दो न स्वभावमहत्तामुन्मीलयति, न च रसपरिपोषाङ्गतां प्रतिपद्यते। यस्मात् सीतायाः सहजेन केनाप्यौचित्येन गन्तुमध्यवसितायाः सौकुमार्यादेवंविधं वस्तु

[इसके विपरीत नीचे दिये हुए श्लोक में दिखलाया हुआ] इस प्रकार का [अर्थ सहृदयहृदयाह्लादकारी] नहीं होता है। जैसे—

[यह श्लोक बालरामायण नाटक के पञ्चम अङ्क का ३४वाँ श्लोक है। उसमें वन को जाते समय सीता की अवस्था और उसकी सुकुमारता का वर्णन किया गया है]। शिरीष के समान कोमल सीता ने [अयोध्या] नगरी के बाह्य भाग में ही [पहले-पहल] जल्दी से तीन-चार क़दम चलकर [उतने में ही श्रान्त हो जाने के कारण] आज कितनी दूर [और] चलना है बार-बार यह कहते हुए, रामचन्द्र की आँखों में प्रथम बार आँसुओं को प्रवाहित कर दिया ॥३३॥

अर्थात् सीता वन को बड़े उत्साह से चली थीं। परन्तु अभी तो वह अयोध्या नगरी की सीमा को भी पार न कर पाई थी कि दो-चार क़दम चलकर ही थक गईं, और रामचन्द्र से बार-बार पूछने लगीं कि आज अभी और कितना चलना है? इसको देखकर रामचन्द्र की आँखों में आँसू आ गये। इससे पहले तक कभी रामचन्द्र रोए नहीं थे। परन्तु सीता की इस अवस्था को देखकर वह विवश रोने लगे। यह कवि का भाव है। महाकवि तुलसीदास ने इसी पद्य का छायानुवाद इस प्रकार दिया है—

पुरतें निकसीं रघुवीरवधू, धरि धीर दिये मग में पग द्वै,
झलकीं भरि भाल कनीं जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै।
पुनि बूझति हैं चलनो अब केतक पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै,
सिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अतिचारु चलीं जल च्वै॥

यहाँ [इस श्लोक में] 'असकृत्' बार-बार अर्थात् प्रतिक्षण और 'आज कितना चलना है' यह कथन रूप [स्वभाव या] व्यापार, न स्वभाव की महत्ता को प्रकट करता है और न रस के परिपोष में सहायक [अङ्ग] होता है। क्योंकि [पत्नीत्व के नाते] किसी स्वाभाविक औचित्य के कारण [राम के साथ वन को] जाने का निश्चय कर

१. बालरामायण ४, ३४।

हृदये परिस्फुरदपि वचनमारोहतीति सहृदयैः सम्भावयितुं न पार्यते । न च प्रतिक्षणमभिधीयमानमपि राघवाश्रुप्रथमावतारस्य सम्यक् सङ्गतिं भजते । सकृदाकर्णनादेव तस्योत्पत्तेः । एतच्चात्यन्तरमणीयमपि मनाङ्मात्रचलितावधानत्वेन कवेः कदर्थितम् । तस्माद् 'अवशम्' इत्यत्र पाठः कर्त्तव्यः ।

तदेवंविधं विशिष्टमेव शब्दार्थयोर्लक्षणमुपादेय । तेन नेयार्थापार्थादयो दूरोत्सारितत्वात् पृथङ् न वक्तव्याः ॥९॥

एवं शब्दार्थयोः प्रसिद्धस्वरूपातिरिक्तमन्यदेव रूपान्तरमभिधाय, न तावन्मात्रमेव काव्योपयोगि किन्तु वैचित्र्यान्तरविशिष्टमित्याह—

लेने वाली सीता के हृदय में [उसके] सुकुमार होने से [कष्ट पड़ने पर] इस प्रकार की वस्तु [जो भाव इस पद्य में व्यक्त किया गया है वह] स्फुरित होने पर भी [उस जैसी दृढ़ प्रतिज्ञ आदर्श नारी के] मुँह से निकल सकती है यह बात सहृदय पाठक कल्पना भी नहीं कर सकता है। [इसलिए सीता के विषय में इस प्रकार का कथन उसके स्वभाव की महत्ता को बढ़ाने वाला नहीं है]। और न 'प्रतिक्षण कहे जाने पर रामचन्द्र के [नेत्रों में] प्रथम बार आँसुओं को प्रवाहित किया' [इस कथन] की भली प्रकार सङ्गति लगती है। एक बार सुनने से ही उस [आँसुओं के प्रवाह] की उत्पत्ति [उचित] होने से [असकृद् ब्रुवाणा रामाश्रुणः प्रथमावतारं कृतवती यह कथन भी सुसङ्गत नहीं होता है। इसलिए] यह [पद्य] अत्यन्त रमणीय होने पर भी कवि की थोड़ी-सी असावधानी से बिगड़ गया है। इसलिए यहाँ [असकृत् के स्थान पर] 'अवशम्' [गन्तव्यमद्य कियदित्यवशं ब्रुवाणा] यह पाठ रखना चाहिए था।

इसलिए [शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् इस काव्य लक्षण में] इस प्रकार का शब्द और अर्थ का विशिष्ट ही लक्षण लेना चाहिए। [सामान्य शब्द और अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए]। इस [प्रकार के विशिष्ट शब्द और अर्थ के लिए ही काव्य शब्द का प्रयोग होने] से 'नेयार्थ' और 'अपार्थ' [नामक काव्य-दोष] आदि एकदम निकल जाते हैं [उनकी कोई सम्भावना ही काव्य में नहीं रहती है। क्योंकि उस प्रकार के शब्द या अर्थ काव्य ही नहीं कहलाते हैं]; इसलिए उन [दोषों] का अलग वर्णन करने की आवश्यकता नहीं रहती है ॥९॥

इस प्रकार [काव्य के लक्षण में अभिप्रेत] शब्द और अर्थ के, प्रसिद्ध स्वरूप से अतिरिक्त कुछ अन्य ही [विशेष प्रकार के] रूपान्तर को यह कहकर, केवल उतना ही काव्य में उपयोगी नहीं है किन्तु कुछ अन्य प्रकार के वैचित्र्य से युक्त [शब्दार्थ स्वरूप ही काव्य में उपयुक्त होने योग्य होता है] यह [बात इस १०वीं कारिका में] कहते हैं—

उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥१०॥

उभौ द्वावप्येतौ शब्दार्थावलङ्कार्यावलङ्करणीयौ, केनापि शोभातिशयकारिणालङ्करणेन योजनीयो । किं तत् तयोरलङ्करणमित्यभिधीयते, 'तयोः पुनरलंकृतिः' । तयोर्द्वित्वसंख्याविशिष्टयोरप्यलंकृतिः पुनरेकैव, यया 'द्वावप्यलंक्रियेते।

काऽसौ, वक्रोक्तिरेव । वक्रोक्तिः, प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा । कीदृशी, वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः । वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्मकौशलं, तस्य भङ्गी विच्छित्तिः, तया भणितिः । विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते ।

तदिदमत्र तात्पर्यम् । यत् शब्दार्थौ पृथगवस्थितौ केनापि व्यतिरिक्तेनालङ्करणेन योज्येते । किन्तु वक्रतावैचित्र्ययोगितयाभिधानमेवानयोरलङ्कारः ।

यह दोनों [शब्द और अर्थ] अलङ्कार्य होते हैं । और चतुरतापूर्ण शैली से कथन [वैदग्ध्यभङ्गीभणिति] रूप वक्रोक्ति ही उन दोनों [शब्द तथा अर्थ] का अलङ्कार होती है ॥१०॥

यह शब्द और अर्थ दोनों ही अलङ्कार्य अर्थात् [अलङ्कार द्वारा] अलङ्करणीय अर्थात् शोभातिशयकारी किसी न किसी अलङ्कार से युक्त करने योग्य होते हैं । उनका वह अलङ्कार कौनसा है यह, 'और उन दोनों का अलङ्कार' [इत्यादि पदों से] कहते हैं । उन द्वित्व संख्या से युक्त [शब्द तथा अर्थ] का अलङ्कार, केवल एक [वक्रोक्ति] ही हैं, जिससे [शब्द और अर्थ] दोनों ही अलंकृत होते हैं ।

[प्रश्न] वह [शब्द अर्थ दोनों का एक ही अलङ्कार] कौनसा है । [उत्तर कहते हैं] वक्रोक्ति ही [शब्द तथा अर्थ दोनों का एकमात्र अलङ्कार है] । प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की विचित्र वर्णन शैली ही वक्रोक्ति [कही जाती] है । कैसी, वैदग्ध्यपूर्ण शैली से कथन [वक्रोक्ति है] । वैदग्ध्य अर्थात् चतुरतापूर्ण कवि कर्म [काव्यनिर्माण] का कौशल, उसकी भङ्गी शैली या शोभा उससे भणिति अर्थात् [वर्णन] कथन करना । विचित्र [असाधारण] प्रकार की वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति कहलाती है ।

यहाँ इसका यह अभिप्राय हुआ कि शब्द और अर्थ [अलङ्कार्य रूप से] अलग स्थित है और वे [उनसे भिन्न] किसी अन्य अलङ्कार से युक्त किये जाते हैं । किन्तु

---

१. यहाँ पुराने संस्करण में 'यथा द्वावप्यंक्रियेते' पाठ छपा हुआ है । यह पाठ वस्तुतः अशुद्ध है । यया के स्थान पर यथा छप गया है और 'द्वावप्यंक्रियेते' में 'ल' छूट गया है । उसको जोड़ देने से 'यया द्वावप्यलंक्रियेते' यह पाठ शुद्ध होगा ।

तस्यैव शोभातिशयकारित्वात् । एतच्च वक्रताव्याख्यानावसर एवोदाहरिष्यते ॥१०॥

ननु च किमिदं प्रसिद्धार्थविरुद्धं प्रतिज्ञायते, यद्वक्रोक्तिरेवालङ्कारो नान्यः कश्चिदिति । यतश्चिरन्तनैरपरं स्वभावोक्तिलक्षणमलङ्करणमाम्नातम् । तच्चातीवरमणीयम् । इत्यसहमानस्तदेव निराकर्तुमाह—

अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः ।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥११॥

येषामलङ्कारकृतामलङ्कारकाराणां स्वभावोक्तिरलंकृतिः, या स्वभावस्य पदार्थधर्मलक्षणस्य परिस्पन्दस्य उक्तिरभिधा, सैवालंकृतिरलङ्करणं प्रतिभाति, ते सुकुमारमानसत्वाद् विवेकक्लेशद्वेषिणः । यस्मात् स्वभावोक्तिरिति कोऽर्थः ।

वक्रता वैचित्र्य के उपयोगी रूप से कथन करना ही उनका अलङ्कार है । उसी [कथन] के शोभातिशयकारी होने से । वक्रता के [भेदों] के व्याख्यान के अवसर पर ही इसके उदाहरण देंगे ॥१०॥

[प्रश्न] प्रसिद्ध अर्थ के विरुद्ध आप यह प्रतिज्ञा कैसे करते हैं कि वक्रोक्ति ही [एकमात्र] अलङ्कार है अन्य [कोई अलङ्कार] नहीं है । क्योंकि [दण्डी आदि] अन्य प्राचीन आचार्यों ने स्वभावोक्ति रूप अन्य अलङ्कार [भी] कहा है और वह अत्यन्त सुन्दर [होने से उपेक्षणीय नहीं] है ।

[उत्तर] इस [स्वभावोक्ति वादी के पूर्वपक्ष] को सहन न कर सकने के कारण [वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक] उसी [स्वभावोक्तिवाद] के निराकरण करने के लिए [अगली ११ से १५ तक पाँच कारिकाओं में युक्तियाँ] कहते हैं—

जिन [दण्डी सदृश] आलङ्कारिक आचार्यों के मत में स्वभावोक्ति [भी] अलङ्कार है उनके मत में और अलङ्कार्य क्या रह जाता है । [अर्थात् स्वभाव ही अलङ्कार्य है । उसको अलङ्कार मान लेने पर फिर 'अलङ्कार्य' किसको कहा जायगा । अतः अलङ्कार्य भूत स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानना उचित नहीं है] ॥११॥

जिन अलङ्कारकारों अर्थात् अलङ्कार [शास्त्र] के रचने वाले आचार्यों के मत में 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार है अर्थात् जो पदार्थ के [स्वरूपाधायक] धर्मभूत स्वभाव की उक्ति अर्थात् कथन वही [जिनको] अलंकृति अर्थात् अलङ्कार प्रतीत होता है वह विवेचन शक्ति से रहित [सुकुमारबुद्धि] होने से [अलङ्कार्य और अलङ्कार के] विवेक [भेद, 'विचिर पृथग्भावे'] का कष्ट नहीं उठाना चाहते हैं । [यदि उसके विवेचना का कष्ट करें तो उन्हें विदित हो जाय कि स्वभावोक्ति अलङ्कार नहीं अलङ्कार्य है क्योंकि] स्वभावोक्ति इस [शब्द] का क्या अर्थ है ? स्वभाव ही का वर्णन [होने पर

स्वभाव एवोच्यमानः। स एव यद्यलङ्कारस्तत्किमन्यत् तद्व्यतिरिक्तं काव्य-शरीरकल्पं वस्तु विद्यते यत्तेषामलङ्कार्यतया विभूष्यत्वेनावतिष्ठते पृथगवस्थिति-मासादयति। न किञ्चिदित्यर्थः ॥११॥

ननु च पूर्वमेवावस्थापितं यत्, वाक्यस्यैवाविभागस्य सालङ्कारस्य काव्यत्वमिति [१,६] तत्किमर्थमेतदभिधीयते ? सत्यम्। किन्तु तत्रासत्यभूतोऽपि, अपोद्धारबुद्धिविहितो विभागः कर्तुं शक्यते वर्णपदन्यायेन वाक्यपद-न्यायेन चेत्युक्तमेव। एतदेव प्रकारान्तरेण विकल्पयितुमाह—

स्वभावोक्ति कही जा सकती है। यही स्वभावोक्ति शब्द का अर्थ हुआ]। वह [स्वभाव-वर्णन] ही यदि अलङ्कार है तो फिर उस [स्वभाव-वर्णन] से भिन्न काव्य के शरीर स्थानीय कौन-सी वस्तु है जो उनके मत में 'अलङ्कार्य' तथा अर्थात् विभूष्यत्वेन स्थित हो। [स्वभावोक्ति से] पृथग् [अपनी] सत्ता को प्राप्त करे। अर्थात् और कुछ नहीं है [जिसे 'अलङ्कार्य' कहा जा सके। स्वभाव-वर्णन ही 'अलङ्कार्य' है। अतः उसको 'अलङ्कार' कहना उचित नहीं है।] ॥११॥

[पूर्वपक्ष, इस पर स्वभावोक्ति वादी प्रश्न करता है कि आपने अर्थात् वक्रोक्ति वादी ने ही ग्रन्थ की १, ६ कारिका में] पहले यह [सिद्धान्त] स्थापित किया है कि [अलङ्कार्य और अलङ्कार के] विभाग से रहित सालङ्कार [शब्दार्थ रूप] वाक्य का ही काव्यत्व है। तो [जब आप स्वयं अलङ्कार्य और अलङ्कार का विभाग नहीं मानते हैं तब हम से] यह क्यों कहते हैं [कि स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानने पर अलङ्कार्य क्या होगा। हम भी अलङ्कार और अलङ्कार्य का विभाग नहीं मानते हैं। आप ऐसा समझ सकते हैं]।

[उत्तरपक्ष] ठीक है। [हम अलङ्कार्य और अलङ्कार का वास्तविक विभाग नहीं मानते हैं] किन्तु [हमारे मत में] वहाँ भेदविवक्षा [अपोद्धार बुद्धि] से पूर्वोक्त [पृ० १६ पर दिखलाये हुए] 'वर्णपद न्याय' से अथवा 'वाक्यपद न्याय' से [जिस प्रकार वैयाकरण सिद्धान्त में पद से भिन्न उसके अवयव रूप 'वर्ण' नहीं होते हैं और वाक्य से भिन्न उसके अवयवभूत 'पदों' की स्वतन्त्र वास्तविक स्थिति नहीं है फिर भी प्रकृति, प्रत्यय, क्रिया, कारक, आदि व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार काव्य में भी अलङ्कार तथा अलङ्कार्य की अलग पारमार्थिक स्थिति न होने पर भी भेद विवक्षा में अलङ्कार्य अलङ्कार] विभाग किया जा सकता है। यह कह ही चुके हैं। [इसलिए यहाँ भी अलङ्कार्य तथा अलङ्कार का भेद होना आवश्यक है। भले ही वह पारमार्थिक न हो। 'स्वभावोक्ति-वाद' में अलङ्कार्य भूत पदार्थस्वरूप को ही अलङ्कार मान लेने पर वह भेद नहीं बनता है। अतः यह स्वभावोक्ति की अलङ्कारता का पक्ष ठीक नहीं है]। इसी बात को प्रकारान्तर से प्रतिपादन करने के लिए [विकल्पयितुं] कहते हैं—

स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते ।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते ॥१२॥

स्वभावव्यतिरेकेण स्वपरिस्पन्दं विना निःस्वभावं वक्तुमभिधातुमेव न युज्यते, न शक्यते । वस्तु वाच्यलक्षणम् । कुतः, तद्रहितं तेन स्वभावेन रहितं वर्जितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते । उपाख्याया निष्क्रान्तं निरुपाख्यम् । उपाख्या, शब्दः, तस्यागोचरभूतमभिधानायोग्यमेव सम्पद्यते । यस्मात् स्वभावशब्दस्येदृशी व्युत्पत्तिः, भवतोऽस्मादभिधानप्रत्ययौ इति भावः, स्वस्यात्मनो भावः स्वभावः । तेन स एव यस्य कस्यचित् पदार्थस्य प्रख्योपाख्यावतारनिबन्धनम् । तेन वर्जितं असत्कल्पं वस्तु शशविषाणप्रायं शब्दज्ञानागोचरतां प्रतिपद्यते । स्वभावयुक्तमेव सर्वथाभिधेयपदवीमवतरतीति शाकटिकवाक्यानामपि सालङ्कारता प्राप्नोति, स्वभावोक्तियुक्तत्वेन ॥१२॥

[स्वभावोक्ति को जब अलङ्कार मानोगे तब उससे भिन्न कुछ अन्य अलङ्कार्य होगा । परन्तु उस] स्वभाव के [स्वरूप के कथन के] बिना वस्तु का वर्णन [कथन] ही सम्भव नहीं हो सकता है । क्योंकि उस [स्वभाव] से रहित वस्तु [शशविषाण, वन्ध्यापुत्र आदि के समान] तुच्छ असत्कल्प [निरुपाख्य] हो जाती है ॥१२॥

स्वभाव व्यतिरेकेण अर्थात् स्व-स्वरूप [स्वपरिस्पन्द] के बिना निःस्वभाव, स्वरूप रहित [वस्तु] का वर्णन ही नहीं किया जा सकता है । वस्तु अर्थात् वाच्यभूत [का वर्णन] क्यों [नहीं हो सकता है] ? तद्रहित अर्थात् उस स्वभाव से रहित अर्थात् वर्जित [वस्तु] क्योंकि 'निरुपाख्य' हो जाती है । उपाख्या से निष्क्रान्त [इस विग्रह में 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इस वार्तिक से समास होकर] निरुपाख्य [पद बनता है और उसका अर्थ अवर्णनीय या तुच्छ असत्कल्प आदि होता है । क्योंकि] उपाख्या [शब्द का अर्थ] 'शब्द' है । [उससे निष्क्रान्त अर्थात्] उसका अगोचर [अविषय] भूत [वस्तु] वर्णन के अयोग्य ही हो जाता है । क्योंकि स्वभाव शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है । जिससे [अर्थ का] कथन [अभिधान] और ज्ञान [प्रत्यय] होते हैं वह 'भाव' है । और 'स्व' का अर्थात् अपना 'भाव' [अर्थात् स्वरूप जिससे पदार्थ का कथन और ज्ञान रूप व्यवहार होता है वह] 'स्वभाव' [स्वरूप] है । इसलिए वह [स्वभाव या स्वरूप] ही सब पदार्थों [यस्य कस्यचित् पदार्थस्य] का ज्ञान और कथन [प्रख्या ज्ञान, और उपाख्या माने कथन] रूप व्यवहार का कारण होता है । उस [स्वभाव अर्थात् स्वरूप] से रहित वस्तु शशविषाण सदृश शब्द और ज्ञान [व्यवहार] के अगोचर हो जाती है । [उसका शब्द से कथन या ज्ञान नहीं हो सकता है] क्योंकि स्वभाव

एतदेव युक्त्यन्तरेण विकल्पयति—

शरीरं चेदलङ्कारः किमलंकुरुते परम् ।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥१३॥

यस्य कस्यचिद् वर्ण्यमानस्य वस्तुनो वर्णनीयत्वेन स्वभाव एव वर्ण्य-शरीरम् । स एव चेदलङ्कारो, यदि विभूषणं, तत्किमपरं तद्व्यतिरिक्तं विद्यते यदलंकुरुते विभूषयति । स्वात्मानमेवालङ्करोतीति चेत्, तदयुक्तम्, अनुपपत्तेः । यस्मादात्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति । शरीरमेव शरीरस्य न कुत्र-चिदप्यंसमधिरोहतीत्यर्थः । स्वात्मनि क्रियाविरोधात् ॥१३॥

[स्वरूप] युक्त वस्तु ही सर्वथा कथन करने योग्य होती है । इसलिए [स्वभाव कथन, स्वरूप कथन, स्वभावोक्ति, अलङ्कार्य ही हो सकता है अलङ्कार नहीं । और यदि स्वभाव वर्णन को आप अलङ्कार मानने का आग्रह ही करते हैं तो आपके मत में] स्वभावोक्ति से युक्त होने से [अत्यन्त अशिक्षित और मूर्ख] गाड़ी हांकने वालों के वाक्यों में भी सालङ्कारता [अतएव काव्यत्व] प्राप्त होने लगेगी । [जो कि अभीष्ट नहीं है । अतः स्वभावोक्ति अलङ्कार नहीं है] ॥१२॥

इस बात को दूसरी युक्ति से फिर कहते हैं—

[स्वभाव अर्थात् स्वरूप तो काव्य का शरीर स्थानीय है] वह शरीर ही यदि [स्वभावोक्ति नामक] अलङ्कार हो जाय तो वह [स्वभावोक्ति अलङ्कार] दूसरे किस [अलङ्कार्य] को अलंकृत करेगा । [वह स्वभाव या स्वरूप ही अलङ्कार्य हो और स्वाभावोक्ति ही अलङ्कार हो यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि संसार में] कहीं कोई स्वयं अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता है ॥१३॥

किसी भी वर्ण्यमान वस्तु का स्वभाव [स्वरूप] ही वर्णनीय होने से वर्ण्य शरीर से रूप होता है । वह [वर्ण्य शरीर रूप स्वभाव] ही यदि अलङ्कार अर्थात् विभूषण हो जाय तो उससे भिन्न और [अलङ्कार्य] क्या है जिसको [यह स्वभावोक्ति अलङ्कार] अलंकृत अर्थात् विभूषित करता है । यदि यह कहो कि [स्वभावोक्ति अलङ्कार] स्वयं अपने स्वरूप को अलंकृत करता है, तो यह अनुपपन्न [युक्तिविरुद्ध] होने से अनुचित है । क्योंकि [संसार में] कहीं भी [कोई] अपने आप अपने कन्धे पर नहीं चढ़ता है । शरीर ही शरीर के कन्धे पर कहीं नहीं चढ़ता है, यह अभिप्राय हुआ । स्वयं अपने में [अधि-रोहणादि रूप स्वाश्रित] क्रिया का विरोध होने से । [इसलिए भी स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानना उचित नहीं है] ॥१३॥

अन्यच्च, अभ्युपगम्यापि ब्रूमः—

भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे ।
भेदावबोधः प्रकटस्तयोरप्रकटोऽथवा ॥१४॥
स्पष्टे सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टे सङ्करस्ततः ।
अलङ्कारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते ॥१५॥

भूषणत्वे स्वभावस्य अलङ्कारत्वे स्वपरिस्पन्दस्य यदा भूषणान्तरमलङ्कारान्तरं विधीयते तदा विहिते कृते तस्मिन् सति, द्वयी गतिः सम्भवति । काऽसौ ? तयोः स्वभावोक्त्यलङ्कारान्तरयोः भेदावबोधो भिन्नत्वप्रतिभासः प्रकटः सुस्पष्टः कदाचिदप्रकटश्चापरिस्फुटो वेति । तदा स्पष्टे प्रकटे तस्मिन् सर्वत्र सर्वस्मिन् कविविषये संसृष्टिरेवैकालंकृतिः प्राप्नोति । अस्पष्टे तस्मिन्नप्रकटे सर्वत्रैकैकः

और [दुर्जनतोष न्याय से यदि थोड़ी देर के लिए स्वभावोक्ति को अलङ्कार मान भी लिया जाय तो] उसको मानकर भी हम कहते हैं [कि इष्टसिद्धि नहीं होगी। क्योंकि]—

स्वभाव [स्वभावोक्ति] को अलङ्कार मानने पर [काव्य में उसके अतिरिक्त उपमा आदि] अन्य अलङ्कार की रचना होने पर उन दोनों [अर्थात् स्वभावोक्ति तथा उपमादि अन्य अलङ्कारों] के भेद का ज्ञान स्पष्ट होता है अथवा अस्पष्ट। [यह बतलाओ] ॥१४॥

[स्वभावोक्ति अलङ्कार का अन्य उपमादि अलङ्कारों से भेदज्ञान] स्पष्ट होने पर [उन दोनों अलङ्कारों की निरपेक्ष स्थिति होने से 'मिथोऽनपेक्षतयैषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते' इस लक्षण के अनुसार] सर्वत्र संसृष्टि [अलङ्कार] होगा। और [उपमादि के साथ स्वभावोक्ति के भेदज्ञान के] स्पष्ट न होने पर [अङ्गाङ्गिभाव रूप से अथवा एकाश्रयानुप्रवेश अथवा सन्देह रूप तीन प्रकार के सङ्करों में से किसी प्रकार का] सङ्कर ही सर्वत्र होने लगेगा। इसलिए [शुद्ध रूप से उपमादि] अन्य अलङ्कारों का विषय [उदाहरण] ही नहीं बचेगा [अर्थात् शुद्ध उपमादि अलङ्कार जहाँ रह सकें ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलेगा] ॥१५॥

स्वभाव के भूषण होने पर अर्थात् स्वरूप [स्वपरिस्पन्द] के अलङ्कार मानने पर जब [उपमादि] अन्य अलङ्कार बनाये [रचे] जाते हैं तब उनके रचे जाने पर दो प्रकार की स्थिति हो सकती है। वह [दो प्रकार की गति] कौनसी है ? उन दोनों अर्थात् स्वभावोक्ति [अलङ्कार] और अन्य [उपमादि] अलङ्कारों का भेदावबोध अर्थात् भेद का ज्ञान प्रकट अर्थात् स्पष्ट [रूप से हो] अथवा कभी

सङ्करोऽलङ्कारः प्राप्नोति। ततः को दोषः स्यादित्याह—'अलङ्कारान्तराणाञ्च विषयो नावशिष्यते'। अन्येषामलङ्काराणामुपमादीनां विषयो गोचरो न कश्चिदवशिष्यते, निर्विषयत्वमेवायातीत्यर्थः। ततस्तेषां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः।

यदि वा तावेव संसृष्टिसङ्करौ तेषां विषयत्वेन कल्प्येते तदपि न किञ्चित्। तैरेवालङ्कारकारैस्तस्यार्थस्यानङ्गीकृतत्वात् इत्यनेनाकाशचर्वणप्रतिमेनालमलीकनिबन्धनेन।

प्रकृतमनुसरामः। सर्वथा यस्य कस्यचित् पदार्थजातस्य कविव्यापारविषयत्वेन वर्णनापदवीमवतरतः स्वभाव एव सहृदयहृदयाह्लादकारी काव्यशरीरत्वेन वर्णनीयतां प्रतिपद्यते। स एव च यथायोगं शोभातिशयकारिणा येन

अप्रकट अर्थात् अस्पष्ट रूप से हो। तब [उन दोनों से प्रथम पक्ष में] उस [स्वाभावोक्ति अलङ्कार के उपमा आदि अन्य अलङ्कारों के साथ भेद के ज्ञान के] के स्पष्ट होने पर सर्वत्र अर्थात् समस्त कविवाक्यों [काव्यों] में [स्वभावोक्ति तथा उपमादि अन्य अलङ्कारों की अनपेक्षतया स्थिति होने से 'मिथोऽनपेक्षतयैषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते' इस लक्षण के अनुसार] केवल संसृष्टि ही एक अलङ्कार होगा। और उस [भेदज्ञान] के अस्पष्ट होने पर [अङ्गाङ्गिभाव अथवा एकाश्रयानुप्रवेश अथवा सन्देह सङ्कर इन तीन प्रकार के सङ्करों में से किसी न किसी प्रकार का] एक सङ्करालङ्कार ही सर्वत्र होने लगेगा। उससे क्या हानि होगी यह कहते हैं। और [शुद्ध या केवल उपमादि अलङ्कार जहाँ हों ऐसा] अन्य अलङ्कारों का विषय [उदाहरण] ही शेष नहीं रह जावेगा। अन्य उपमादि अलङ्कारों का विषय अर्थात् क्षेत्र कहीं भी नहीं रहेगा। अर्थात् [वह उपमादि अन्य अलङ्कार] निर्विषय हो जाता है। अतः उनके लक्षणों का करना व्यर्थ हो जाता है।

अथवा [इस वैयर्थ्य को बचाने के लिए] यदि वह संसृष्टि और सङ्कर ही उन [उपमादि अलङ्कारों] के विषय मान लिये जायँ तो भी वह कुछ बनता नहीं है। उन्हीं [स्वभावोक्ति को स्वतन्त्र अलङ्कार प्रतिपादन करने वाले] आलङ्कारिकों के द्वारा [अर्थात् उपमादि अलङ्कार केवल संसृष्टि या सङ्कर रूप में ही उपलब्ध हो सकते हैं। स्वतन्त्र रूप से उनकी सत्ता सम्भव नहीं है] इस बात के स्वीकृत न होने से। [यह कहना भी उचित नहीं है]। इसलिए आकाश-चर्वण के समान [असम्भव और] मिथ्या [पदार्थ. अर्थात् स्वभावोक्ति के अलङ्कारत्व का] लिखना व्यर्थ है।

[उसको छोड़कर] प्रकृत का अनुसरण करते हैं। सब प्रकार से किसी भी पदार्थ के कविव्यापार के विषय रूप से वर्णनीयता को प्राप्त होने पर उसका सहृदयाह्लादकारी स्वभाव [स्वरूप] ही काव्य के शरीर रूप में वर्णनीयता को प्राप्त होता है। वह ही [अलङ्कार्य होने से] यथोचित सब अलङ्कारों से युक्त किया

केनचिदलङ्कारेण योजयितव्यः । तदिदमुक्तं, 'अर्थः सहृदयहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः' । [१, ६] इति, 'उभावेतावलङ्कार्यौ' [१, १०] इति च ॥१५॥

एवं शब्दार्थयोः परमार्थमभिधाय 'शब्दार्थौ' इति [१, ७] काव्यलक्षणवाक्ये पदमेकं व्याख्यातम् । इदानीं 'सहितौ' इति [१, ७] व्याख्यातुं साहित्यमेतयोः पर्यालोच्यते ।

शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा ।
सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते ॥१६॥

शब्दार्थावभिधानाभिधेयौ सहिताववियुक्तौ सदा सर्वकालं प्रतीतौ स्फुरतः, ज्ञाने प्रतिभासेते । ततस्तावेव सहिताववियुक्तौ इति किमपूर्वं विधीयते न किञ्चिदभूतं निष्पाद्यते । सिद्धं साध्यत इत्यर्थः । तदेवं शब्दार्थयोः निसर्गसिद्धं साहित्यम् । कः सचेताः पुनस्तदभिधानेन निष्प्रयोजनमात्मानमायासयति ।

जाना चाहिये । यही बात 'अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः' इस [प्रथमोन्मेष की नवम कारिका में] और 'उभावेतावलङ्कार्यौ' इस [दशम कारिका] में कह चुके हैं । ॥१४-१५॥

इस प्रकार ['शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस काव्यलक्षण की व्याख्या करते हुए] शब्द और अर्थ [इन दोनों पदों] के [काव्य में अभिप्रेत] वास्तविक अर्थ का कथन करके 'शब्दार्थौ' ['शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' १, ७] इस काव्य के लक्षण वाक्य में [से 'शब्दार्थौ' इस] एक पद की व्याख्या कर दी । अब [लक्षणवाक्य के दूसरे] 'सहितौ' इस [१, ७ पद] की व्याख्या करने के लिए उन दोनों [शब्द तथा अर्थ] के 'साहित्य' [सहभाव] का विचार करते हैं—

[प्रश्न] शब्द और अर्थ तो सदा साथ-साथ ही ज्ञान में भासते [स्फुरित होते] हैं । [क्योंकि 'नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः' इस नियम के अनुसार शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध होने से शब्द और अर्थ की साथ-साथ ही प्रतीति होती है । उनका 'साहित्य' सदा ही बना रहता है] । इसलिए [काव्य के लक्षण में] 'सहितौ' इस [पद] से [आप] कौन सी नई बात प्रतिपादन कर रहे हैं । [कोई नई अपूर्व बात आप नहीं कह रहे हैं । तब आपका यह लक्षण करना व्यर्थ प्रयास है] ॥१६॥

शब्द और अर्थ अर्थात् वाचक और वाच्य सदा सब कालों में 'सहित' अर्थात् अवियुक्त रूप में ही प्रतीति अर्थात् ज्ञान में स्फुरित अर्थात् प्रतिभासित होते हैं । तब उन्हीं दोनों को सहित अर्थात् अवियुक्त यह कहकर कौनसी नई बात कह रहे हैं । कोई अपूर्व अर्थ सिद्ध नहीं होता है [अर्थात्] केवल पिष्टपेषण [सिद्ध साधन] ही होता है । यह अभिप्राय हुआ । इस प्रकार शब्द और अर्थ का 'साहित्य' नित्यसिद्ध है । [सहितौ इस शब्द से] उसको फिर कहकर कौन बुद्धिमान् [व्यक्ति] अपने आपको व्यर्थ परिश्रम में डालेगा ।

सत्यमेतत्। किन्तु न वाच्यवाचकलक्षणशाश्वतसम्बन्धनिबन्धनं वस्तुतः साहित्यमुच्यते। यस्मादेतस्मिन् साहित्यशब्देनाभिधीयमाने कष्टकल्पनोपरचितानि गाङ्कुटादिवाक्यानि, असम्बद्धानि शाकटिकादिवाक्यानि च सर्वाणि साहित्य-शब्देनाभिधीयेरन्। तेन पदवाक्यप्रमाणव्यतिरिक्तं किमपि तत्वान्तरं साहित्य मिति विभागोऽपि न स्यात्।

ननु च पदादिव्यतिरिक्तं यत्किमपि साहित्यं नाम तदपि सुप्रद्धिमेव, पुनस्तदभिधानेऽपि कथं न पौनरुक्त्यप्रसङ्गः ?

अतएवैतदुच्यते, यदिदं साहित्यं नाम तदेतावति निःसीमनि समया-ध्वनि साहित्यशब्दमात्रेणैव प्रसिद्धम्। न पुनरेतस्य कविकर्मकौशलकाष्ठाधि-रूढ़िरमणीयस्याद्यापि कश्चिदपि विपश्चिदयमस्य परमार्थ इति मनाङ्मात्रमपि विचारपदवीमवतीर्णः। तदद्य सरस्वतीहृदयारविन्दमकरन्दबिन्दुसन्दोहसुन्दराणां सत्कविवचसामन्तरामोदं मनोहरत्वेन परिस्फुरदेतत सहृदयषट्चरणगोचरतां नीयते ॥१६॥

[उत्तर] ठीक है। [पिष्टपेषण करना वस्तुतः बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं है]। किन्तु [यहाँ काव्य लक्षण में] वस्तुतः शब्द और अर्थ के वाच्य वाचक रूप नित्य सम्बन्ध को लेकर 'साहित्य' नहीं कहा गया है। क्योंकि इस [नित्य सम्बन्धमूलक साहित्य] का 'साहित्य' शब्द से कथन मानने पर [तो] क्लिष्टकल्पना द्वारा रचे गये 'गाङ्कुटादि ['गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' पाणिनि व्याकरण के १, २, १ इस सूत्र रूप] वाक्य, और गाड़ीवान आदि के असम्बद्ध वाक्य आदि सब ही [वाक्य] 'साहित्य' कहलाने लगेंगे। उससे, व्याकरण [पद], मीमांसा [वाक्य] और न्याय [प्रमाण], से भिन्न 'साहित्य' कुछ और ही तत्त्व है यह विभाग भी न हो सकेगा। [इसलिए शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्धमूलक 'साहित्य' यहाँ अभिप्रेत नहीं है]।

[प्रश्न] व्याकरणादि शास्त्रों से भिन्न [पदादिव्यतिरक्तं] जो 'साहित्य' [नामक शास्त्र] है वह भी प्रसिद्ध [सबको ज्ञात] ही है। फिर [आप जो उसका लक्षण कर रहे हैं।] उसको कहने से पुनरुक्ति क्यों नहीं होती ?

[उत्तर] इसीलिए हम कहते हैं कि यह जो [वास्तविक] 'साहित्य' है वह [आज तक अर्थात् ग्रन्थकार कुन्तक के समय तक] इतने [विस्तृत] असीम समय की परम्परा में केवल [नाममात्र को] 'साहित्य' शब्द से प्रसिद्ध रहा है। परन्तु कविकर्म के कौशल की काष्ठा-प्राप्ति से रमणीय 'इस [साहित्य शब्द] का यह वास्तविक अर्थ है' इस बात का आज [तक] भी किसी विद्वान् ने तनिक भी विचार नहीं किया है। इसलिए आज हम सरस्वती के हृदयारविन्द के मकरन्दबिन्दुसमूह से सुन्दर और सत्कवि-वाक्यों के आन्तरिक आमोद से मनोहर स्वरूप से अनुभव होने वाले इस

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥ १७॥

सहितयोर्भावः साहित्यम् । अनयोः शब्दार्थयोर्या काप्यलौकिकी चेतनचमत्कारकारितायाः कारणं, अवस्थितिर्विचित्रैव विन्यासभङ्गी । कीदृशी, अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिणी, परस्परस्पर्धित्वरमणीया । यस्यां द्वयोरेकतरस्यापि न्यूनत्वं निकर्षो न विद्यते नाप्यतिरिक्तत्वमुत्कर्षो वास्तीत्यर्थः ।

ननु च तथाविधं साम्यं द्वयोरुपहतयोरपि सम्भवतीत्याह, 'शोभाशालितां प्रति' । शोभा सौन्दर्यमुच्यते । तया शालते श्लाघते यः स शोभाशाली, तस्य भावः शोभाशालिता, तां प्रति सौन्दर्यश्लाघितां प्रतीत्यर्थः । सैव च सहृदयाह्लादकारिता ।

[साहित्य शब्द के अर्थ] को सहृदय रूप भ्रमरों के सामने प्रस्तुत करते हैं । [अर्थात् 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्य आदि के लिए अवश्य होता है परन्तु उनका वास्तविक अर्थ यहां क्या होना चाहिए । इस बात का विचार अब तक किसी विद्वान् ने नहीं किया है । इसलिए हम जो उस 'साहित्य' शब्द के वास्तविक अर्थ का विवेचन कर रहे हैं वह पिष्टपेषण या पुनरुक्ति रूप नहीं है ।] ॥ १६ ॥

[काव्य की] शोभाशालिता [सौन्दर्याधायकता] के प्रति इन दोनों [शब्द तथा अर्थ] की न्यून और आधिक्य से रहित [परस्परस्पर्द्धि समभाव से] कुछ अनिर्वचनीय [लोकोत्तर] मनोहर स्थिति [ही] 'साहित्य' [शब्द का यथार्थ अर्थ] है ॥१७॥

सहित [शब्द तथा अर्थ] का भाव 'साहित्य' है । इन [सहित] शब्द और अर्थ की सहृदय आह्लादकारिता की कारणभूत जो कोई अलौकिक अवस्थिति अर्थात् विचित्र रचनाशैली [है वही साहित्य है] । कैसी कि—न्यूनता और अधिकता से रहित होने से मनोहारिणी, अर्थात् परस्परस्पर्द्धित्व से रमणीया । जिसमें [शब्द-अर्थ] दोनों में से किसी भी एक का न्यूनत्व अर्थात् अपकर्ष नहीं है और न अतिरिक्तत्व अर्थात् उत्कर्ष ही है । [ऐसी अन्यूनातिरिक्तत्व विशिष्ट स्थिति को 'साहित्य' कहते हैं] यह अभिप्राय है ॥१७॥

[प्रश्न] इस प्रकार का साम्य दोनों दूषित [शब्दार्थ में] भी हो सकता है । [तो क्या उसको भी 'साहित्य' कहा जा सकेगा] ?

[उत्तर] इस [शङ्का के निवारण के] लिए कहते हैं । 'शोभाशालितां प्रति' । शोभा सौन्दर्य को कहते हैं उससे जो शोभित प्रशंसित होता है वह शोभाशाली हुआ । उसका भाव शोभाशालिता, उसके प्रति अर्थात् सौन्दर्यशालिता के प्रति यह अर्थ हुआ । और यही सहृदय आह्लादकारिता है । उस [सौन्दर्यशालिता अथवा

तस्यां स्पर्धित्वेन याऽसाववस्थितिः परस्परसाम्यमुभगमवस्थानं सा साहित्य-मुच्यते। तत्र वाचकस्य वाचकान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण साहित्यमभि-प्रेतम्। वाक्ये काव्यलक्षणस्य परिसमाप्तत्वादिति प्रतिपादितमेव [१, ७]।

ननु च वाचकस्य वाच्यान्तरेण, वाच्यस्य वाचकान्तरेण कथं न साहित्य-मिति चेत्।

तन्न, क्रमव्युत्क्रमे प्रयोजनाभावादसमन्वयाच्च। तस्मादेतयोः शब्दार्थयोर्यथास्वं यस्यां स्वसम्पत्सामग्रीसमुदायः सहृदयाह्लादकारी परस्पर-स्पर्धया परिस्फुरति, सा काचिदेव वाक्यविन्याससम्पत् साहित्यव्यपदेशभाग् भवति।

मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः।
अलङ्करणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः ॥३४॥

सहृदयाह्लादकारिता] के लिए ['चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' के समान 'तस्यां' यहाँ निमित्त में सप्तमी है] स्पर्धित्वेन [अन्यूनानतिरिक्तत्वेन] जो स्थिति अर्थात् परस्पर समानता से सुन्दर रूप में जो [शब्द और अर्थ] की स्थिति है वह 'साहित्य' कहलाती है। उस [साहित्य] में [काव्य के शब्दों से एक] शब्द का दूसरे शब्द के साथ और एक अर्थ का दूसरे अर्थ के साथ 'साहित्य' अभिप्रेत है। [अनेक शब्द तथा अनेक अर्थ रूप] वाक्य में काव्य के लक्षण की परिसमाप्ति होती है यह [१, ७ सातवीं कारिका में] प्रतिपादन ही कर चुके हैं।

[प्रश्न] एक शब्द का दूसरे अर्थ के साथ और एक अर्थ का दूसरे शब्द के साथ 'साहित्य' क्यों नहीं मानते हो। यह प्रश्न करो तो—

[उत्तर] वह ठीक नहीं है। [एक शब्द का दूसरे शब्द के साथ और एक अर्थ का दूसरे अर्थ के साथ 'साहित्य' होना चाहिए। इस] क्रम के परिवर्तन में कोई प्रयोजन न होने से और [परिवर्तित रूप का] समन्वय न हो सकने से। [इस क्रम का परिवर्तन करना उचित नहीं है]। इसलिए जिस रचना में इन शब्द तथा अर्थों का यथायोग्य अपनी [अन्यूनानतिरिक्त रूप] सम्पत्सामग्री का समुदाय सहृदयाह्लादकारी परस्पर स्पर्धा से स्फुरित होता है वह कोई [विशिष्ट] ही वाक्य-रचना 'साहित्य' नाम की अधिकारिणी होती है।

[यही बात निम्नलिखित अन्तरश्लोकों में कही गई है]।

मार्गों [रीतियों] की अनुकूलता से सुन्दर, माधुर्यादि गुणों से युक्त, वक्रता [बाँकपन] के अतिशय से युक्त अलङ्कार का विन्यास [जिसमें विद्यमान है वह] ॥३४॥

वृत्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम् ।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि ॥३५॥
सा काप्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा ।
पदादिवाक्परिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते ॥३६॥

एतेषाञ्च पद-वाक्य-प्रमाण-साहित्यानां चतुर्णामपि प्रतिवाक्यमुपयोगः। १. तथा चैतत्पदमेवं स्वरूपं गकारौकारविसर्जनीयात्मकं, एतस्य चार्थस्य प्रातिपदिकार्थपञ्चकलक्षणस्य आख्यातपदार्थषट्कलक्षणस्य वाचकमिति पदसंस्कारलक्षणस्य व्यापारः। २. पदानाञ्च परस्परान्वयलक्षणसम्बन्धनिबन्धनमेतद्वाक्यार्थतात्पर्यमिति वाक्यविचारलक्षणस्योपयोगः। ३. प्रमाणेन प्रत्यक्षादिनैतदुपपन्नमिति युक्तियुक्तत्वं नाम प्रमाणलक्षणस्य प्रयोजनम्। ४. इदमेव परिस्पन्दमाहात्म्यात् सहृदयहृदयहारितां प्रतिपन्नमिति साहित्यस्योपयुज्यमानता।

वृत्तियों के औचित्य से मनोहारी रसों का परिपोषण, उचित रूप से [शब्द और अर्थ] दोनों में स्पर्धा से जहाँ रहता है ॥३५॥

काव्य-मर्मज्ञों को आनन्द प्रदान करने वाले व्यापार से सुन्दर [शब्द और अर्थ की] वह कुछ अनिर्वचनीय [अतिसुन्दर] स्थिति' पद [व्याकरण] आदि [वाक्य मीमांसा, तथा प्रमाण न्यायशास्त्र[वाङ्मय का सार [सर्वोत्तम भाग] 'साहित्य' [शब्द से] कहा जाता है ॥३६॥

इन व्याकरण, मीमांसा, न्याय तथा साहित्य चारों का ही प्रत्येक वाक्य में [अर्थात् बहुत अधिक] प्रयोग होता है। १. जैसे गकार औकार विसर्जनीयात्मक यह [गौः] इस प्रकार का पद, इस प्रातिपदिकार्थ पञ्चक [१ प्रातिपदिकार्थ, २ लिङ्ग, ३ परिमाण, ४ वचन और ५ कारक] अथवा आख्यातार्थ षट्क [१ व्यापाराश्रय कर्त्ता, २ फलाश्रय कर्म, ३ काल, ४ पुरुष, ५ वचन, और ६ भाव] रूप इस [अमुक] अर्थ का वाचक है। यह 'पद संस्कार शास्त्र' [व्याकरण शास्त्र] का काम [व्यापार] है। २. पदों के परस्परान्वय रूप सम्बन्धमूलक [पदों के परस्पर अन्वय के उपस्थित होने वाला] यह वाक्यार्थ का तात्पर्य है, यह 'वाक्यविचार शास्त्र' [मीमांसा]का उपयोग है। ३. प्रत्यक्षादि प्रमाणों से यह उपपन्न है। इस प्रकार युक्तियुक्तत्व [का प्रतिपादन] 'प्रमाणशास्त्र' [न्याय] का प्रयोजन है। [इन सब स्थलों में 'लक्षण' शब्द का अर्थ 'शास्त्र' है] ४. यह [वाक्य विशेष] ही स्वभावगत सौन्दर्य से सहृदयों की हृदयहारिता को प्राप्त हो जाता है यह 'साहित्य' [शास्त्र] की उपयोगिता है।

इन[व्याकरण आदि शास्त्रों]में से यद्यपि प्रत्येक का अपने-अपने विषय[क्षेत्र]में प्राधान्य और अन्यों का [उस क्षेत्र में] गुणीभाव है, किन्तु फिर भी सारे वाङ्मय के

एतेषां यद्यपि प्रत्येकं स्वविषये प्राधान्यमन्येषां गुणीभावस्तथापि सकलवाक्परिस्पन्दजीवितायमानस्यास्य साहित्यलक्षणस्यैव कविव्यापारस्य वस्तुतः सर्वत्रातिशायित्वम् । यस्मादेतदमुख्यतयापि यत्र वाक्यसन्दर्भान्तरे स्वपरिमलमात्रेणैव संस्कारमारभते तस्यैतदधिवासशून्यतामात्रेणैव रामणीयकविरहः पर्यवस्यति । तस्मादुपादेयतायाः परिहाणिरुत्पद्यते । तथा च स्वप्रवृत्तिवैयर्थ्यप्रसङ्गः । शास्त्रातिरिक्तप्रयोजनत्वं शास्त्राभिधेयचतुर्वर्गफलाधिकत्वञ्चास्य पूर्वमेव प्रतिपादितम् [१, ३, ५] ।

अपर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसम्पदा ।
गीतवद् हृदयाह्लादं तद्विदां विदधाति यत् ॥३७॥
वाच्यावबोधनिष्पत्तौ पदवाक्यार्थवर्जितम् ।
यत्किमप्यर्पयत्यन्तः पानकास्वादवत् सताम् ॥३८॥
शरीरं जीवितेनेव स्फुरितेनेव जीवितम् ।
विना निर्जीवतां येन वाक्यं याति विपाश्चताम् ॥३९॥

प्राणभूत 'साहित्य' रूप [यहाँ लक्षण शब्द का अर्थ स्वरूप है] कविव्यापार का ही वस्तुतः सबसे अधिक महत्त्व है । क्योंकि यह [साहित्य का भाव] जहाँ अमुख्य रूप से भी जिस अन्य [व्याकरण प्रधान भट्टिकाव्य जैसे] वाक्य समूह [रचना] में अपनी परिमल मात्र [गन्धमात्र 'नाममात्र'] से ही संस्कार करता है [जहाँ साहित्य का अंश गौण हो जाता है] इस [साहित्य] के अधिवास [प्राधान्येन] से रहित होने मात्र से ही उस [वाक्यसन्दर्भ] की रमणीयता का अभाव हो जाता है । और उस [रमणीयताभाव] के कारण [उस वाक्य सन्दर्भ या काव्य] की उपादेयता की हानि हो जाता है । इसलिए [उस गुणीभूत काव्य की] अपनी रचना [प्रवृत्ति] व्यर्थ हो जाती है । [व्याकरण, मीमांसा, न्याय आदि] शास्त्रों से [साहित्य-शास्त्र का] भिन्न प्रयोजनत्व और शास्त्रों के प्रतिपाद्य चतुर्वर्ग [रूप फल] से अधिक फलत्व इस [साहित्य] का पहिले [१, ३, ५ कारिकाओं में] ही प्रतिपादन कर चुके हैं ।

[यही बात निम्नलिखित संग्रह श्लोकों में भी कही है]—

अर्थ का विचार किये बिना भी [अपनी] रचना के सौन्दर्य से [ही] सङ्गीत [के शब्दों] के समान जो काव्यमर्मज्ञों को आनन्द प्रदान करता है ॥३७॥

अर्थ की प्रतीति हो जाने के बाद पद और वाक्य के अर्थ से भिन्न [व्यङ्ग्य स्वरूप] जो ठंडाई आदि [पानक] के आस्वाद के समान अन्तःकरण में कुछ अपूर्व आस्वाद [आनन्द] प्रदान करता है ॥३८॥

प्राणों के बिना शरीर और स्फूर्ति के बिना जीवन [जैसे व्यर्थ और निर्जीव है उस] के समान जिस [साहित्य तत्त्व] के बिना विद्वानों के वाक्य निर्जीव [आकर्षण-विहीन, चमत्काररहित] हो जाते हैं ॥३९॥

यस्मात् किमपि सौभाग्यं तद्विदामेव गोचरम् ।
सरस्वती समभ्येति तदिदानीं विचार्यते ॥४०॥

इत्यन्तरश्लोकाः ॥१७॥

एवं सहिताविति व्याख्याय कविव्यापारवक्रत्वं व्याचष्टे—

कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः सम्भवन्ति षट् ।
प्रत्येकं बहवो भेदास्तेषां विच्छित्तिशोभिनः ॥१८॥

कवीनां व्यापारः कविव्यापारः, काव्यक्रियालक्षणस्तस्य वक्रत्वं वक्रभावः प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकि वैचित्र्यं, तस्य प्रकाराः प्रभेदाः षट् सम्भवन्ति । मुख्यतया तावन्त एव सम्भवन्तीत्यर्थः । तेषां प्रत्येकं प्रकाराः बहवो भेदा विशेषाः । कीदृशाः विच्छित्तिशोभिनः वैचित्र्यभङ्गीभ्राजिष्णवः । सम्भवन्तीति सम्बन्धः ॥१८॥

जिससे केवल सहृदय संवेद्य कुछ अपूर्व सौन्दर्य सरस्वती को प्राप्त होता है उस [वक्रोक्ति रूप कविव्यापार] का अब [अगले ग्रन्थ भाग में] विचार [प्रारम्भ] करते हैं । ॥४०॥

यह अन्तरश्लोक [संग्रह श्लोक] है । ॥१७॥

इस प्रकार [शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् इस काव्य लक्षण के] सहितौ [इस पद] की व्याख्या करने के बाद कवियों के व्यापार की 'वक्रता' [बाँकपन, लोकोत्तरता] की व्याख्या [प्रारम्भ] करते हैं—

कवियों के व्यापार की 'वक्रता' के [मुख्यतः] छः प्रकार हो सकते हैं । उन [छः भेदों] में से प्रत्येक [भेद] के वैचित्र्य से शोभित होने वाले अनेक भेद हो सकते हैं । ॥१८॥

कवियों का काव्य-रचना रूप व्यापार [यहाँ] कवि-व्यापार [समझना चाहिए] । उसका वक्रत्व या बाँकपन अर्थात् प्रसिद्ध [गुण अलङ्कार आदि] प्रस्थान से भिन्न जो [काव्य का सौन्दर्य या] वैचित्र्य, उसके ६ प्रकार या भेद हो सकते हैं । [अर्थात् वैसे उनके अवान्तर भेद तो बहुत हो जाते हैं परन्तु] मुख्य रूप से उतने [अर्थात् ६] ही हो सकते हैं । [फिर] उनमें से प्रत्येक के बहुत से प्रकार या भेद [हो जाते] हैं । किस प्रकार के [वे अवान्तर भेद हैं कि] 'वैचित्र्य से सुन्दर लगने वाले' अर्थात् वैचित्र्य [युक्त रचना] शैली से चमकते हुए [अवान्तर भेद] हो सकते हैं यह [भवति क्रिया का अध्याहार करके] सम्बन्ध होता है ॥१८॥

तदेव दर्शयति—

वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्द्धवक्रता ।
वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः ॥१९॥

१ वर्ण विन्यासवक्रता—

वर्णानां विन्यासो वर्णविन्यासः । अक्षराणां विशिष्टन्यसनं, तस्य वक्रत्वं वक्रभावः प्रसिद्धप्रस्थानातिरेकिणा वैचित्र्येणोपनिबन्धः । सन्निवेश-विशेषविहितस्तद्विदाह्लादकारी शब्दशोभातिशयः । यथा—

प्रथममरुणच्छायस्तावत् ततः कनकप्रभः
तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः ।
प्रसरति ततो ध्वान्तक्षोदक्षमः क्षणदामुखे
सरसविसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥४१॥

उसी [वक्रता के षड्विध मुख्य प्रकार] को दिखलाते हैं—(१) वर्णविन्यास वक्रता, (२) पदपूर्वार्द्ध-वक्रता और वक्रता का तीसरा प्रकार (३) प्रत्यय-वक्रता भी है। [यह तीन भेद इस कारिका में दिखलाये हैं। शेष तीन भेद अगली दो अर्थात् २०, २१ कारिकाओं में दिखलावेंगे] ॥१९॥

१ वर्ण विन्यास वक्रता—

वर्णों का विन्यास वर्णविन्यास है। [अर्थात्] अक्षरों का विशेष प्रकार से [रचना में] रखना [वर्ण-विन्यास कहलाता है]। उसका वक्रत्व, वक्रता [बांकपन] प्रसिद्ध [साधारण] शैली से [भिन्न प्रकार से] [वैचित्र्य से] रचना। सन्निवेशविशेष से विहित सहृदयाह्लादकारी शोभातिशय ['वर्णविन्यासवक्रता' कहलाती] है। जैसे—

यह श्लोक सुभाषितावली सं० २००४, काव्यप्रकाश पृ० २६० श्लोक सं० १३९, सरस्वतीकण्ठाभरण १, ८७, सदुक्तिकर्णामृतम् ३९६, शृङ्गारतिलक [वाग्भट्] पृ० ४५, अलङ्कारशेखर ८, १, में उद्धृत हुआ है। काव्यप्रकाश की 'चन्द्रिका' नामक व्याख्या में इसको 'मालतीमाधव' नामक भवभूति के नाटक में चन्द्रोदय के वर्णन में लिखा गया बतलाया है। परन्तु 'मालतीमाधव' में यह श्लोक नहीं मिलता है।

इसमें चन्द्रोदय का वर्णन करते हुए कवि लिखता है—

[चन्द्रमा उदय के समय सबसे] प्रथम [अत्यन्त] लाल वर्ण का, उसके बाद [थोड़ा और उदय होने पर] सोने के समान [पीली] कान्ति का, उसके बाद विरह-सन्तप्त सुन्दरी के कपोल तल के समान [पीत] कान्ति वाला, और उसके बाद रात्रि के प्रारम्भ में अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ और सरस [ताजे] मृणाल खण्डों के समान कान्ति वाला [मृगलञ्छन युक्त] चन्द्रमा चढ़ने लगता है ॥ ४१ ॥

अत्र वर्णविन्यासवक्रतामात्रविहितः शोभातिशयः सुतरां समुन्मीलितः। एतदेव वर्णविन्यासवक्रत्वं चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम्। अत्र च प्रभेद-स्वरूपनिरूपणं लक्षणावसरे [२, १] करिष्यते।

२ पदपूर्वार्द्ध वक्रता--

पदस्य सुबन्तस्य तिङन्तस्य वा यत्पूर्वार्द्धं प्रातिपदिकलक्षणं धातु-लक्षणं वा तस्य वक्रता वक्रभावो विन्यासवैचित्र्यम्। तत्र च बहवः प्रकाराः सम्भवन्ति।

[क]—यत्र रूढ़िशब्दस्यैव प्रस्तावसमुचितत्वेन वाच्यप्रसिद्धधर्मा-न्तराध्यारोपगर्भत्वेन निबन्धः स पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः प्रथमः प्रकारः। यथा—

रामोऽस्मि सर्वं सहे ॥४२॥[1]

इसमें केवल वर्ण-विन्यास की वक्रता से उत्पन्न सौन्दर्य का अतिशय साफ़ दिखलाई दे रहा है। यही 'वर्णविन्यास-वक्रता' प्राचीन आलङ्कारिकों में 'अनुप्रास' [नाम से] प्रसिद्ध है। इसके अवान्तर भेदों के स्वरूप का निरूपण [२, १ में उनके] लक्षण के अवसर पर करेंगे।

२—पदपूर्वार्द्धवक्रता—सुबन्त या तिङन्त रूप पद[2] का जो पूर्वार्द्ध [सुबन्त पद का पूर्वार्द्ध] प्रातिपदिक अथवा [तिङन्त पद का पूर्वार्द्ध] धातु रूप, उसकी वक्रता बांकपन, अर्थात् विन्यास का वैचित्र्य [उसी को 'पदपूर्वार्द्ध-वक्रता' कहते हैं]। उस [पदपूर्वार्द्ध वक्रता] के बहुत से प्रकार हो सकते हैं।

[क]—जहाँ रूढ़ि शब्द का ही प्रकरण के अनुरूप, वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म से भिन्न धर्म के अध्यारोप को लेकर प्रयोग किया जाय वह 'पदपूर्वार्द्ध-वक्रता' का प्रथम प्रकार है। जैसे—

मैं [कठोरहृदय] 'राम' हूँ सब सह लूंगा ॥४२॥

यह अंश, 'महानाटक' के पञ्चम अङ्क के ७वें श्लोक में से लिया गया है। यह श्लोक 'ध्वन्यालोक' पृ० ९९, 'काव्यप्रकाश' पृ० १८८, अभिधावृत्तिमातृका' पृ० ११, में उद्धृत हुआ है। 'साहित्यदर्पण' में इसी को 'धर्मीगत फल' की व्यञ्जना का उदाहरण माना है। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथंभ विष्यति हहा हा देवि धीरा भव॥

---

१. महानाटक ५, ७। २. सुप्तिङन्तं पदम् अष्टा० १, ४, १४।

[ख]—द्वितीयः। यत्र संज्ञाशब्दस्य वाच्यप्रसिद्धधर्मस्य लोकोत्तरातिशयाध्यारोपं गर्भीकृत्योपनिबन्धः यथा—

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परां
अस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम्।

स्निग्ध एवं श्याम कान्ति से आकाश को व्याप्त करने वाले, और बलाका [बक-पंक्ति] जिनमें बिहार कर रही है ऐसे मेघ [भले ही उमड़ें] शीकरों, [छोटे-छोटे जलकणों] से युक्त [शीतल मन्द] समीर [भले ही बहे] और मेघों के मित्र मयूरों की आनन्दभरी कूकें भी चाहे जितनी [श्रवणगोचर] हों, मैं तो [कठोर हृदय] 'राम' हूँ, सब कुछ सह लूँगा। परन्तु [अतिसुकुमारी कोमलहृदया वियोगिनी] वैदेही की क्या दशा होगी। हा देवि ! धैर्य रखना।

इसमें 'राम' शब्द केवल वाच्यभूत साधारण राम अर्थ को नहीं कहता है। अपितु वाच्यत्वेन प्रसिद्ध साधारण राम से भिन्न अत्यन्त दुःखसहिष्णुत्व रूप धर्मान्तर का अध्यारोप करके प्रत्युक्त किया गया है। इसलिए यह 'पदपूर्वार्द्ध-वक्रता' के प्रथम प्रकार का उदाहरण है। आनन्दवर्धनाचार्य आदि ध्वनि सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों ने इसी को 'अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि' का उदाहरण माना है।

[ख]—दूसरा [पदपूर्वार्द्धवक्रता का प्रकार वह होता है] जहाँ [रूढ़ि] संज्ञा शब्द वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म में लोकोत्तर अतिशय का अध्यारोप गर्भ में रखकर प्रयुक्त किया जाता है। [इसका अभिप्राय यह हुआ कि पहिला भेद धर्मिगत अतिशय का और दूसरा भेद धर्मगत अतिशय का बोधक होता है। व्यञ्जनावाद में भी फल के धर्मीगत तथा धर्मगत रूप से दो भेद किये गये हैं]। जैसे—

यह श्लोक 'काव्यप्रकाश' पृ० १८२ उदाहरण सं० १०९ पर उद्धृत हुआ है। काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने उसे 'राघवानन्द' नामक अप्राप्य नाटक का श्लोक बतलाया है। परन्तु उनमें थोड़ा-सा मतभेद है। 'माणिक्यचन्द्र' उसे रावण के प्रति कुम्भकर्ण की उक्ति बतलाते हैं। और 'चन्द्रिकाकार' उसे रावण के प्रति विभीषण की उक्ति बतलाते हैं। श्री ध्रुव जी द्वारा सम्पादित 'मुद्राराक्षस' नाटक की भूमिका में पृ० २२ पर लिखा है कि 'सदुक्तिकर्णामृत' में यह 'विशाखदत्त' के श्लोक के रूप में उद्धृत हुआ है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पृ० ३४१ पर यह श्लोक बिना लेखक का नाम दिये हुए उद्धृत किया गया है।

'चन्द्रिकाकार' के अनुसार इस श्लोक में विभीषण रावण से कह रहा है कि—

यह [खरदूषणादि का मारने वाला और सकलजनप्रिय] रामचन्द्र [अपने] पराक्रम [दयालुता आदि] गुणों से समस्त लोकों में अत्यन्त प्रसिद्धि को प्राप्त है। परन्तु [इतने प्रसिद्ध व्यक्ति को भी अभिमानवश] आप नहीं जानते हैं तो यह

वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद्यस्यैकबाणाहति-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥४३॥[1]

अत्र 'राम' शब्दो लोकोत्तरशौर्यादिधर्मातिशयाध्यारोपपरत्वेनोपात्तो वक्रतां प्रथयति ।

हमारे [लङ्कावासियों के] दुर्भाग्य से ही है । [हम लङ्कावासी राक्षसों का विनाश समीप आ गया है इसीलिए आप इतने विश्वविख्यात राम को भी अपने अभिमानवश क्षुद्र मानकर 'हम नहीं जानते' यह कह रहे हो । अन्यथा] केवल एक बाण के प्रहार से पंक्तिबद्ध और विशाल [सप्त] तालों [में उत्पन्न] विवरों से निकलते हुए [सङ्गीत के] सप्त स्वरों से, चारण के समान वायु [भी] जिनके यश का गायन कर रहा है [उसको आप न जानते यह कैसे हो सकता था । इस न जानने का कारण केवल हमारा दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है । अन्य कुछ नहीं] ॥४३ ॥

यहाँ 'राम' शब्द लोकोत्तर शौर्यादि धर्म के अतिशय के अध्यारोप परत्वेन प्रयुक्त होने से [पद पूर्वार्द्ध] वक्रता को सूचित करता है ।

'पदपूर्वार्द्ध-वक्रता' के अभी तक दो भेद दिखलाए हैं और दोनों के उदाहरणों में 'राम' पद में ही वक्रता का प्रतिपादन किया है । इन दोनों में भेद यह है कि प्रथम उदाहरण में, वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म से भिन्न धर्मान्तिर को अध्यारोप और दूसरे में वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म में ही लोकोत्तर अतिशय का अध्यारोप गर्भित है । इसको अधिक स्पष्ट रूप से यों कहना चाहिए कि प्रथम भेद में वाच्यत्वेन प्रसिद्ध राम रूप धर्मी में 'अत्यन्त दुःख सहिष्णुत्व' रूप धर्मान्तर का अध्यारोप कर धर्मीगत वैशिष्ट्य सूचित किया गया है और दूसरे उदाहरण में राम के प्रसिद्ध शौर्यादि गुणों में ही लोकोत्तरत्व का अध्यारोप करके धर्मगत वैशिष्ट्य सूचित किया गया है । वैसे यह दोनों उदाहरण बहुत मिलते हुए हैं ।

काव्यप्रकाश में इस उदाहरण में 'असौ' पद से सर्वनाम का, 'भुवनेषु' पद में प्रातिपदिक का, 'गुणैः' पद में बहुवचन रूप वचन का, 'अस्मत्' पद से केवल तुम्हारा या केवल हमारा नहीं अपितु समस्त लङ्कावासियों का और 'भाग्यविपर्ययात्' पद से अन्यथा विपरिणाम द्वारा कथन का वीररस-व्यञ्जकत्व प्रतिपादन किया है । अर्थात् कुन्तक ने इसमें केवल एक 'राम' पद में ही 'वक्रता' का प्रतिपादन किया है जब कि काव्यप्रकाशकार ने इसके अनेक पदों में व्यञ्जकत्व अथवा वक्रता का प्रतिपादन माना है ।

१. राघवानन्द नाटक ।

[ग]—'पर्यायवक्रत्व' नाम प्रकारान्तरं पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः। यत्रानेकशब्दाभिधेयत्वे वस्तुनः किमपि पर्यायपदं प्रस्तुतानुगुणत्वेन प्रयुज्यते। यथा—

वामं कज्जलवद्विलोचनमुरो रोहद्विसारिस्तनं
मध्यं क्षाममकाण्ड एव विपुलाभोगा नितम्बस्थली।
सद्यः प्रोद्गतविस्मयैरिति गणैरालोक्यमानं मुहुः
पायाद्वः प्रथमं वपुः स्मररिपोर्मिश्रीभवत् कान्तया॥ ४४॥

अत्र 'स्मररिपोः' इति पर्यायः कामपि वक्रतामुन्मीलयति। यस्मात् कामशत्रोः कान्तया मिश्रीभावः शरीरस्य न कथञ्चिदपि सम्भाव्यते, इति गणानां सद्यः प्रोद्गतविस्मयत्वमुपपन्नम्। सोऽपि पुनः पुनः परिशीलने नाश्चर्यकारीति 'प्रथम' पदस्य जीवितम्।

एतच्च 'पर्यायवक्रत्वं' वाच्यासम्भविधर्मान्तरगर्भीकारेणापि दृश्यते। यथा—

[ग]—पदपूर्वार्द्ध [प्रातिपदिक] वक्रता का [तीसरा] अन्य प्रकार 'पर्याय वक्रता' है। जिसमें वस्तु का अनेक शब्दों से कथन सम्भव होने पर [भी] प्रकरण के अनुरूप होने से कोई [सर्वातिशायी] विशेष पद [ही] प्रयुक्त किया जाता है। जैसे—

[पार्वती के साथ संयोग होने के कारण जिसका] वाम नेत्र कज्जलयुक्त [हो गया है] वक्षःस्थल पर [बाईं ओर] बड़ा-सा स्तन उदय हो रहा है। कमर बिना बात के ही पतली हो गई है और नितम्ब का अत्यन्त विस्तार हो गया है। कान्ता [पार्वती] के साथ प्रथम बार [अर्द्धनारीश्वर के रूप में] संयुक्त होते हुए स्मरारि [शिव] का तुरन्त [संयुक्त होने और देखने के साथ ही] विस्मययुक्त हुए गणों के द्वारा देखे जाने वाला शरीर तुम्हारी रक्षा करे ॥४४॥

यहाँ [शिव के वाचक अनेक पद रहते हुए भी विशेष रूप से छाँटकर प्रयुक्त किया हुआ] 'स्मररिपोः' यह पर्याय शब्द कुछ अपूर्व चमत्कार को प्रकाशित कर रहा है। क्योंकि कामदेव के शत्रु शिव के शरीर का स्त्री के शरीर के साथ संयोग किसी प्रकार भी सम्भव नहीं हो सकता है। इसलिए गणों का [उस संयोग को देखकर] 'सद्यः' विस्मययुक्त हो जाना भी युक्तिसङ्गत है। वह [संयोग] भी बार-बार देखने पर आश्चर्यजनक नहीं रह सकता है यह [श्लोक में प्रयुक्त हुए] 'प्रथम' इस पद का प्राण [चमत्कारजनक सार] है। [इसलिए यह 'पर्यायवक्रता' का उदाहरण है]।

यह 'पर्यायवक्रता' वाच्यार्थ में असम्भव धर्मान्तर के गर्भित होने पर भी हो सकती है। जैसे—

यह उद्धरण वेणीसंहार नाटक के तृतीयाङ्क पृ० ४६ से लिया गया है। यह व्यक्तिविवेक पृ० ४५ तथा साहित्यदर्पण आदि में भी उद्धृत हुआ है। दुःशासन के वध के प्रसङ्ग में भीम, कर्ण का उपहास करता हुआ उससे कह रहा है—

अङ्गराज सेनापते राजवल्लभ रक्षैनं भीमाद्दुःशासनम् । इति ॥ ४५ ॥

अत्र त्रयाणामपि पर्यायाणामसम्भाव्यमानतत्परित्राणपात्रत्वलक्षणम-किञ्चित्करत्वं गर्भीकृत्योपहस्यते रक्षैनमिति ।

[घ] पदपूर्वार्द्धवक्रताया 'उपचारवक्रत्वं' नाम प्रकारान्तरं विद्यते । यत्रामूर्तस्य वस्तुनो मूर्तद्रव्याभिधायिना शब्देनाभिधानमुपचारात् । यथा—

'निष्कारणं निकारकणिकापि मनस्विनां मानसमायासयति'

यथा वा—

'हस्तापचेयं यशः' ।

'कणिका'शब्दो मूर्तवस्तुस्तोकार्थाभिधायी स्तोकत्वसामान्योपचारादमूर्त-स्यापि निकारस्य स्तोकाभिधानपरत्वेन प्रयुक्तस्तद्विदाह्लादकारित्वाद्वक्रतां पुष्णाति ।

'हस्तापचेयम्' इति मूर्त्तपुष्पादिवस्तुसम्भविसंहतत्वसामान्योपचाराद-मूर्तस्यापि यशसो 'हस्तापचेयम्' इत्यभिधानं वक्रत्वमावहति ।

अरे राजा साहब [अङ्गराज], सेनापति महोदय, राजा [दुर्योधन] के प्रिय [कर्ण जी अगर आप में सामर्थ्य हो तो आओ मुझ] भीम से [इस] दुःशासन को बचा लो [मैं इसका खून पीने जा रहा हूँ] ॥४५॥

इसमें [दिये हुए अङ्गराज, सेनापते और राजवल्लभ इन] तीनों पर्यायों [विशेषणों] में उसकी रक्षा के सामर्थ्य की असम्भाव्यता रूप अकिञ्चित्करत्व को गर्भित करके 'इसको बचाओ' इस प्रकार [कर्ण का] उपहास किया जा रहा है ।

[घ] पदपूर्वार्द्धवक्रता का 'उपचारवक्रता' नामक [चौथा] अन्य प्रकार है । जहाँ अमूर्त्त, वस्तु का मूर्त्त वस्तु के वाचक शब्द द्वारा [सादृश्य लक्षणामूलक] उपचार से कथन किया जाय । जैसे—

बिना कारण अपमान की कणिका [लेशमात्र] भी मनस्वियों के मन को दुःखी कर देती है ।

और जैसे [इसी का दूसरा उदाहरण]—

हाथ से बटोरने [इकट्ठा करने] योग्य यश ।

[इनमें से पहले उदाहरण में] मूर्त्त वस्तु के स्वल्प भाग का वाचक 'कणिका' शब्द अल्पता रूप साम्य के कारण उपचार से अमूर्त्त [भाववाचक] 'अपमान' की अल्पता के बोधन के अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ, सहृदयों का आह्लादकारी होने से वक्रता को परिपुष्ट करता है ।

[दूसरे उदाहरण में] 'हस्तापचेयम्' इस [पद के प्रयोग] से मूर्त्त पुष्पादि वस्तुओं में सम्भव एकत्रीकरण [संहतत्त्व] के साम्य के कारण उपचार से अमूर्त्त यश का भी [पुष्पादि के समान] 'हस्तापचेयत्व' का कथन, वक्रता को व्यक्त करता है ।

द्रवरूपस्य वस्तुनो वाचकशब्दस्तरङ्गितत्वादिधर्मनिबन्धनः किमपि सादृश्यमात्रमवलम्व्य संहतस्यापि वाचकत्वेन प्रयुज्यमानः कविप्रवाहे प्रसिद्धः । यथा—

श्वासोत्कम्पतरङ्गिणि स्तनतटे । इति ॥ ४६ ॥

क्वचिदमूर्तस्यापि द्रवरूपार्थाभिधायी वाचकत्वेन प्रयुज्यते । यथा—

एकां कामपि कालविप्रुषममी शौर्योष्मकण्डूव्यय-
व्यग्राः स्युश्चिरविस्मृतामरचमूडिम्बाहवा बाहवः ॥ ४७ ॥

द्रव रूप वस्तु का वाचक शब्द, तरङ्गितत्त्व आदि धर्म के कारण किसी [रमणीय] सादृश्य को लेकर ठोस [द्रव्य] के वाचक रूप में भी प्रयुक्त होता हुआ कवि-समाज में प्रसिद्ध है । [अर्थात् द्रववाचक शब्द का ठोस अर्थ के लिए भी प्रयोग कवियों में देखा जाता है । यहां 'कवि-प्रवाह' शब्द भी इस भाव से विशेष रूप से प्रयुक्त किया गया है] जैसे—

श्वासजन्य कम्प से तरङ्गित स्तन तट में ॥४६॥

यह पद्यांश कवीन्द्रवचनसमुच्चय में संख्या ४५० पर उद्धृत है । वक्रोक्तिजीवित में भी आगे उस पूर्ण श्लोक को उद्धृत किया गया है जिसका यह एक भाग है।

यहाँ ठोस स्तनतट को द्रव वाचक तरङ्ग से युक्त [तरङ्गित] कहा है । उस शब्द के प्रयोग से श्वास से कम्पित स्तन में तरङ्ग के साम्य का प्रतिपादन कर कवि ने विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न कर दिया है । इसलिए यह भी 'पद पूर्वार्द्ध-वक्रता' के 'उपचार-वक्रता' नामक चतुर्थ भेद का उदाहरण है । इसी' उपचार-वक्रता' का एक और प्रकार आगे दिखलाते हैं ।

कहीं अमूर्त्त [अर्थ] के लिए भी द्रव पदार्थ का वाचक [शब्द], वाचक रूप से प्रयुक्त होता है । जैसे—

यह श्लोक कहाँ का है यह पता नहीं चलता । पूरा श्लोक तृतीय उन्मेष में फिर उद्धृत किया गया है । जो इस प्रकार है—

लोको यादृशमाह साहसधनं तं क्षत्रियापुत्रकं,
स्यात् सत्येन स तादृगेव न भवेद् वार्ता विसंवादिनी ।
एकां कामपि कालविप्रुषममी शौर्योष्मकण्डूव्यय-
व्यग्राः स्युश्चिरविस्मृतामरचमूडिम्बाहवा बाहवः ॥

उस साहसी [मुझ से युद्ध करने का दुःसाहस करने वाले । तुच्छ] क्षत्रिया पुत्र [तुच्छता सूचन के लिए 'क' प्रत्यय का और 'क्षत्रिया' शब्द का प्रयोग किया गया है] को लोग जैसा [शूर] कहते हैं वह सचमुच वैसा ही [भले ही] हो [और उसके विषय में कही जाने वाली] बात सत्य ही हो सही—

एतयोस्तरङ्गिणीति विप्रुषमिति च वक्रतामावहतः ।

[ङ] 'विशेषणवक्रत्वं' नाम पदपूर्वार्धवक्रतायाः प्रकारो विद्यते । यत्र विशेषणमाहात्म्यादेव तद्विदाह्लादकारित्वलक्षणं वक्रत्वमभिव्यज्यते । यथा—

दाहोऽम्भः प्रसृतिम्पचः प्रचयवान् वाष्पः प्रणालोचितः
श्वासाः प्रेङ्खितदीप्रदीपलतिकाः पाण्डिम्नि मग्नं वपुः ।
किञ्चान्यत् कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने
हस्तच्छत्रनिरुद्धचन्द्रमहसस्तस्याः स्थितिर्वर्तते ॥४८॥[1]

[किन्तु] बहुत दिन से देवताओं की सेना के सैनिकों के साथ का युद्ध भी [देवताओं के पराजित हो जाने के कारण] जिनको विस्मृत हो गया है, ऐसे मेरे बाहु थोड़ी देर के लिए [कामपि कालविप्रुषं] शौर्य की उष्णता से उत्पन्न खुजली को मिटाने के लिए व्यग्र हो रहे हैं । [अतः उसके साथ युद्ध करना ही है] ॥४७॥

[श्वासोत्कम्प०, तथा एकां कामपि] इन दोनों [उदाहरणों] में [क्रमशः मूर्त्त के और अमूर्त्त के लिए द्रव पदार्थाभिधायी] 'तरङ्गिणि' यह और 'विप्रुषं' [बूँद] यह [पद प्रयुक्त होकर] वक्रता को उत्पन्न करते हैं । [अर्थात् उपचार-वक्रता से युक्त हैं] ।

[ङ] 'विशेषणवक्रता' [भी] 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' का [पाँचवाँ] प्रकार है । जहाँ विशेषण के माहात्म्य से ही सहृदयाह्लादकारित्व रूप वक्रत्व अभिव्यक्त होता है । जैसे—

यह श्लोक 'विद्धशालभञ्जिका' के द्वितीयाङ्क का २१वाँ श्लोक है । सुभाषितावली सं० १४११, कवीन्द्रवचनामृत सं० २७६, रुय्यक पृ० ६८, जयरथ पृ० ४१, अलङ्कारशेखर पृ० ६८, और चित्रमीमाँसा पृ० १०३ पर भी उद्धृत हुआ है ।

[तुम्हारे वियोग में उस नायिका के शरीर का] दाह चुल्लुओं पानी को सुखा देने वाला, आँसू नाली में बहने योग्य [प्रचुर मात्रा में] है, [उष्ण] निश्वास हिलते हुए प्रज्वलित दीपमाला के समान है और [सारा] शरीर सफ़ेदी में डूबा हुआ है । और अधिक क्या कहूँ सारी रात तुम्हारे मार्ग की ओर वाले झरोखे में अपने हाथ के छाते से [हाथ को छाते समान चन्द्रमा के सामने लगाकर] चाँदनी को रोके हुए वह [तुम्हारी प्रतीक्षा में] बैठी रहती है ॥४८॥

---

१. विद्धशालभञ्जिका २, २१ ।

अत्र दाहो, वाष्पः, श्वासो, वपुरिति न किञ्चिद्वैचित्र्यमुन्मीलितम् । प्रत्येकं विशेषणमाहात्म्यात् पुनः काचिदेव वक्रताप्रतीतिः ।
यथा च—

व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणां
बद्धोत्कम्पस्तनकलशया मन्युमन्तर्निगृह्य ।
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत्समुत्सृज्य वाष्पं
मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥४६॥[1]

अत्र 'चकितहरिणीहारि' इति क्रियाविशेषणं नेत्रत्रिभागसङ्गस्य गुरुसन्निधानविहिताप्रगल्भत्वरमणीयस्य कामपि कमनीयतामावहति, चकितहरिणीहारिविलोचनसाम्येन ।

[च] अयमपरः पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः प्रकारो यदिदं 'संवृतिवक्रत्वं' नाम । यत्र पदार्थस्वरूपं प्रस्तावानुगुण्येन केनापि निकर्षेणोत्कर्षेण वा युक्तं व्यक्ततया साक्षादभिधातुमशक्यं संवृत्तिसामर्थ्योपयोगिना शब्देनाभिधीयते । यथा—

यहाँ [केवल विशेष्य रूप] दाह, वाष्प, श्वास और वपु इन [शब्दों] से कोई वैचित्र्य प्रकट नहीं होता है । किन्तु प्रत्येक के साथ विशेषण [दाहः के साथ 'प्रसृतिम्पचः', वाष्पः के साथ 'प्रणालोचितः', श्वासः के साथ 'प्रेङ्खितदीप्रदीपलतिका', और वपुः के साथ 'पाण्डिम्नि मग्नं' इन विशेषणों के लग जाने से] के माहात्म्य से कुछ और ही चारुता की प्रतीति होने लगती है ।

और जैसे [उसी 'विशेषणवक्रता' का और उदाहरण]—

गुरुजनों [सास-श्वसुर आदि] के समीप होने के कारण लज्जा से सिर झुकाए कुचकलशों, को कम्पित करने वाले मन्यु [क्रोधावेग] को हृदय में [ही] दबाकर [भी] आंसू टपकाते हुए, चकित हरिणी [के दृष्टिपात] के समान हृदयाकर्षक नेत्र का त्रिभाग [कटाक्ष] जो मेरे ऊपर जमाया [या फेंका] सो [उसके द्वारा] क्या उसने [मुझ से तिष्ठ] ठहरो, मत जाओ, यह नहीं कहा ॥४६॥

यहाँ 'चकितहरिणीहारि' यह क्रियाविशेषण [चकितहरिणी के मनोहर लोचन के साथ साम्य से] गुरुओं [सास श्वसुर आदि] के समीप [स्त्री द्वारा] किये हुए अप्रगल्भता से रमणीय [नेत्र त्रिभाग] कटाक्ष की [गड़ाने] आसक्ति को कुछ अपूर्व सौन्दर्य प्रदान कर रहा है ।

[च] यह जो 'संवृत्तिवक्रता' है वह 'पदपूर्वार्द्ध-वक्रता' का [छठा] और प्रकार है । जहाँ प्रकरण के अनुरूप किसी अपकर्ष अथवा उत्कर्ष [विशेष] के कारण पदार्थ का स्वरूप व्यक्त रूप से साक्षात् नहीं कहा जा सकता है और [अर्थ] छिपाने की सामर्थ्य से युक्त किसी शब्द से [अस्पष्ट रूप] कहा जाता है । वहाँ 'संवृत्ति-वक्रता' होती है] जैसे—

---

१. शार्ङ्गधरपद्धतिः ३४६४ ।

सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमे कर्तुं किमप्युद्यतः ॥५०॥

अत्र वत्सराजो वासवदत्ताविपत्तिविधुरहृदयस्तत्प्राप्तिलोभवशेन पद्मावतीं परिणेतुमीहमानस्तदेवाकरणीयमित्यवगच्छन् तस्य वस्तुनो महापातकस्येवाकीर्तनीयतां ख्यापयति, 'किमपि' इत्यनेन संवरणसमर्थेन सर्वनामपदेन ।

यथा च—

निद्रानिमीलितदृशो मदमन्थराया
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।

यह श्लोक 'तापसवत्सराजचरित' के चतुर्थ अङ्क में आया है । वक्रोक्तिजीवित के चतुर्थ उन्मेष में पूरा श्लोक इस प्रकार उद्धृत हुआ है

चतुर्थेऽङ्के राजा सकरुणमात्मगतम्—

चक्षुर्यस्य तवाननादपगतं नाभूत क्वचिन् निर्वृतं
येनैषा सततं त्वदेकशयनं वक्षःस्थली कल्पिता ।
येनोद्भासितया बिना बत जगच्छून्यं क्षणाज्जायते
सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमे कर्तुं किमप्युद्यतः ॥

अपनी पत्नी वासवदत्ता की विपत्ति के समाचार से दुःखित हृदय राजा उदयन ज्योतिषियों के कथनानुसार उसकी प्राप्ति की आशा से जब पद्मावती से विवाह करने को उद्यत होता है तो उस समय वह स्वगत रूप से अपने मन में कह रहा है ।

जिस [वत्सराज उदयन अर्थात्] मेरी आँख ने तुम्हारे मुख से हटकर और कहीं सुख नहीं पाया, जिसने [अपने] इस वक्षःस्थल को सदा केवल तुम्हारी शय्या [विश्राम स्थली] बनाया, जिसकी [अर्थात् मेरी] अनुपस्थिति में उद्भासित [शोभित] न होने के कारण [तुम्हारे लिए भी] पल भर में जगत् जीर्णारण्य [के समान सारहीन, और भयानक] बन जाता था—

हे प्रियतमे [एकपत्नीत्व का] मिथ्या व्रत धारण करने वाला वह मैं आज [पद्मावती के साथ विवाह करके अत्यन्त निन्दनीय] कुछ भी करने को तैयार हो गया हूँ ॥५०॥

यहाँ [अपनी पत्नी] वासवदत्ता की [मृत्यु के समाचार रूप] विपत्ति से खिन्न हृदय वत्सराज [उदयन] उस [वासवदत्ता] की [पुनः] प्राप्ति के लोभवश पद्मावती के साथ विवाह करने की इच्छा करते हुए उस [विवाह] को अनुचित [अकरणीय] समझकर महापातक के समान उस [विवाह] की अकीर्तनीयता को 'किमपि' इस संवरण समर्थ सर्वनाम पद से सूचित करता है । [अतः 'संवृतिवक्रता' का उदाहरण है] ।

और जैसे [संवृति वक्रता का दूसरा उदाहरण]—

अद्यापि मे वरतनोर्मधुराणि तस्या
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥५१॥[1]

अत्र 'किमपि' इति तदाकर्णनविहितायाश्चित्तचमत्कृतेरनुभवैकगोचरत्व-लक्षणमव्यपदेश्यत्वं प्रतिपाद्यते । 'तानि' इति तथाविधानुभवविशिष्टतया स्मर्यमाणानि । 'नाप्यर्थवन्ति' इति स्वसंवेद्यत्वेन व्यपदेशाविषयत्वं प्रकाश्यते । तेषां च 'न च यानि निरर्थकानि' इत्यलौकिकचमत्कारकारित्वादपार्थकत्वं निवार्यते । त्रिष्वप्येतेषु 'विशेषणवक्रत्वं' प्रतीयते ।

[छ] इदमपरं पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः प्रकारान्तरं सम्भवति 'वृत्तिवैचित्र्य-वक्रत्वं' नाम । यत्र समासादितवृत्तीनां कासाञ्चिद्विचित्राणामेव कविभिः परिग्रहः क्रियते । यथा—

यह श्लोक 'बिल्हण' की 'चौरपञ्चाशिका' सं० ३६, का कहा जाता है । परन्तु बर्लिन वाले संस्करण में नहीं मिलता है । 'सुभाषितावली' सं० १२८०, 'जल्हण' कृत 'सूक्तिमुक्तावली' सं० ७४२, और 'दशरूपक' की 'अवलोक' नामक व्याख्या में इसे कलशक का श्लोक कहा गया है । हेमचन्द्र ने पृ० ८९, और समुद्रबन्ध पृ० ९ पर यह बिना कवि नाम के उद्धृत हुआ है ।

मद से अलसाई हुई और निद्रा से आँखें बन्द किए हुए उस सुन्दरी के [मुझ को लक्ष्य में रखकर कहे हुए और अस्पष्ट होने के कारण समझ में न आ सकने से] न सार्थक ही और न अर्थहीन ही वह मधुर अक्षर आज भी मेरे हृदय में न जाने क्या प्रतिध्वनित कर रहे हैं ॥ ५१ ॥

यहाँ [किमपि ध्वनन्ति के] 'किमपि' इस [पद] से उनके [उच्चारण के समय] सुनने से उत्पन्न आनन्द की अनुभवैकगोचरता रूप अवर्णनीयता का प्रतिपादन किया गया है । 'तानि' इस [पद] से उस प्रकार के [आनन्दमय] अनुभव-विशिष्ट रूप से स्मर्यमाण [पदों की अनुभवैकगोचरता रूप अनिर्वचनीयता सूचित होती] है । 'नाप्यर्थवन्ति' इस [पद] से [केवल] स्वसंवेद्य होने से अनिर्वचनीयता प्रकाशित होती है । और 'न च यानि निरर्थकानि' इससे उनके अलौकिक चमत्कारकारी होने से [उनकी] निरर्थकता का निवारण किया गया है । इन तीनों में ही 'विशेषण वक्रता' प्रतीत होती है ।

[छ] यह 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रत्व' भी 'पदपूर्वार्द्धवक्रता' का [सातवाँ भेद] अन्य प्रकार हो सकता है । [वृत्ति शब्द का अर्थ यहाँ सम्बन्ध है । सम्बन्ध के वैचित्र्य से जहाँ वक्रता हो उसे 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' कहते हैं । समासादितवृत्तीनां अर्थात्] जहाँ प्राप्त [अनुभूत अर्थात् अनुभवसिद्ध] सम्बन्धों में से कवि, किसी विशेष [सम्बन्ध] का ही ग्रहण करते हैं । [वहाँ 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' होती है] जैसे—

---

१. चौरपञ्चाशिका सं० ३६ ।

मध्येऽङ्कुरं पल्लवाः ॥५२॥[1]

यथा च—

पाण्डिम्नि मग्नं वपुः ॥५३॥[2]

यथा वा—

सुधाविसरनिष्यन्दसमुल्लासविधायिनि
हिमधामनि खण्डेऽपि न जनो नोन्मनायते ॥५४॥

[ज] अपरं 'लिङ्गवैचित्र्यं' नाम 'पदपूर्वार्द्धवक्रतायाः' प्रकारान्तरं दृश्यते। यत्र भिन्नलिङ्गानामपि शब्दानां वैचित्र्याय सामानाधिकरण्योपनिबन्धः। यथा—

इत्थं जड़े जगति को नु बृहत्प्रमाण-
कर्णः करी ननु भवेद् ध्वनितस्य पात्रम् ॥५५॥[3]

अंकुर के बीच में पल्लव है। [यहाँ अंकुर के बीच में पल्लवों की स्थिति उनकी सुकुमारता के अतिशय को व्यक्त करने वाली होने से वक्रताजनक है। यह श्लोक खण्ड, 'विद्धशालाभञ्जिका' का है] ॥५२॥

और जैसे [वृत्तिवैचित्र्यवक्रता का ही दूसरा उदाहरण]—

शरीर सफ़ेदी में डूब रहा है। [यह अभी पिछले उद्धृत किए हुए ४८वें श्लोक का भाग है। वियोग दुःख में पीले पड़ जाने के लिए 'पाण्डिम्नि मग्नं वपुः' का प्रयोग अत्यन्त शोभाधायक होने से 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' का उदाहरण है] ॥ ५३ ॥

अथवा [उसी 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' का तीसरा उदाहरण] जैसे—

अमृत धारा के प्रवाह से आह्लादित करने वाले [पूर्णिमा के अतिरिक्त अन्य तिथियों के] अपूर्ण चन्द्रमा [के उदय] में भी [प्रियजन के वियोग की दशा में] मनुष्य उन्मना न होता हो सो बात नहीं है। [यहाँ अपूर्ण चन्द्रमा भी मनुष्य को उन्मन कर देता है। फिर पूर्णिमा के चन्द्रमा की तो बात ही क्या कहना। यह कथन चमत्कारविधायक होने से 'वृत्तिवैचित्र्यवक्रता' का उदाहरण है] ॥५४॥

[ज] पदपूर्वार्द्धवक्रता का [आठवां] अन्य प्रकार 'लिङ्गवैचित्र्य' पाया जाता है। जहाँ वैचित्र्य सम्पादन के लिए भिन्न लिङ्ग के शब्दों का भी समानाधिकरण रूप से प्रयोग होता है। [वहाँ 'लिङ्गवक्रता' नामक पदपूर्वार्द्धवक्रता का भेद होता है] जैसे—

यह पद्य 'सुभाषितावली' में सं० ६२८ पर भट्ट वासुदेव के नाम से, आया है। और वक्रोक्तिजीवित में आगे द्वितीय उन्मेष में पूरा पद्य इस प्रकार उद्धृत हुआ है—

इत्थं जड़े जगति को नु बृहत्प्रमाण-
कर्णः करी ननु भवेद् ध्वनितस्य पात्रम्।

---

१. विद्धशालभञ्जिका १, २३। २. उदाहरण सं० ४८ देखो।

३. सुभाषितावली सं० ६२८, भट्टवासुदेवस्य।

यथा च—

मैथिली तस्य दाराः[1] *इति ॥५६॥*

अन्यदपि 'लिङ्गवैचित्र्यवक्रत्वम्'। यत्रानेकलिङ्गसम्भवेऽपि सौकुमार्यात् कविभिः स्त्रीलिङ्गमेव प्रयुज्यते, 'नामैव स्त्रीति पेशलम्' [२, २२] इति कृत्वा। यथा—

इत्यागतं झटिति योऽलिनमुन्ममाथ
मातङ्ग एव किमतः परमुच्यतेऽसौ ॥

यह अन्योक्ति है। हाथी के कान भी बड़े हैं और कर अर्थात् सूंड या हाथ भी बड़ा है। अतः यह हमारी विपत्ति की बात को भली प्रकार सुन सकता है और उसके प्रतिकार के लिए कुछ कर भी सकता है यह समझकर भ्रमर उसके पास आया। परन्तु उसने तुरन्त कान फड़फड़ाकर उसको भगा दिया। इसी प्रकार किसी बड़े समर्थ व्यक्ति के पास कोई दुःखी पुरुष अपनी बात लेकर आवे और वह उसको यों ही भगा दे तो उस हाथी और उस व्यक्ति को 'मातङ्ग' ['मातङ्ग' शब्द का अर्थ हाथी और चाण्डाल दोनों होते हैं] के अतिरिक्त और क्या कहा जाय।

जड़ जगत् में [हाथी के समान] इस प्रकार बड़े-बड़े कानों वाला और बड़ प्रशस्त हाथ वाला [सुनने और कर सकने में समर्थ] कथन करने का पात्र और कौन होगा [कोई नहीं] ॥ ५५ ॥

'बृहत्प्रमाणकर्णः कः ध्वनितस्य पात्रम् भवेत्' यहाँ 'कः' तथा 'पात्रं' में भिन्न लिङ्ग शब्दों का समानाधिकरण से प्रयोग किया गया है। उससे वाक्य में वक्रता का आधान होता है। अतः यह 'लिङ्गवक्रता' का उदाहरण है।

और [इसी 'लिङ्गवक्रता' का दूसरा उदाहरण] जैसे—

मैथिली [सीता] उसकी पत्नी है।

यहाँ 'मैथिली' शब्द स्त्रीलिङ्ग एकवचनान्त और 'दाराः' पद नित्य बहुवचनान्त पुलिङ्ग शब्द है। उन दोनों का समानाधिकरण्य से साथ प्रयोग होने यह 'लिङ्गवक्रता' का उदाहरण है।

'लिङ्गवक्रता' का और भी प्रकार हो सकता है। जहाँ [एक शब्द में] अनेक लिङ्ग सम्भव होने पर भी सौकुमार्यातिशय [द्योतन करने] के लिए कवि लोग 'स्त्री यह नाम ही सुन्दर है' [२, ३२२,] ऐसा मानकर, स्त्रीलिङ्ग का ही प्रयोग करते हैं। जैसे—

---

१. बालरामायण ३, २७।

एतां पश्य पुरस्तटीम् । इति ॥५७॥

[झ] पदपूर्वार्द्धस्य धातोः 'क्रियावैचित्र्यवक्रत्वं' नाम वक्रत्वप्रकारान्तरं विद्यते । यत्र क्रियावैचित्र्यप्रतिपादनपरत्वेन वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरमणीयान् प्रयोगान् निबध्नन्ति कवयः। तत्र क्रियावैचित्र्यं बहुविधं विच्छित्तिविततव्यवहारं दृश्यते । यथा—

रइकेलिहिअणिअंसणकरकिसलअरूद्धणअणजुअलस्स ।
रूद्दस्स तइअणअणं पव्वइपरिचुम्बिअं जअइ ॥५८॥[1]
[रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरूद्धनयनयुगलस्य ।
रूद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥ इति संस्कृतम्]

अत्र समानेऽपि हि स्थगनप्रयोजने साध्ये, तुल्ये च लोचनत्वे, देव्या. परिचुम्बनेन यस्य निरोधः सम्पाद्यते तद्भगवतस्तृतीयं नयनं 'जयति' सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति वाक्यार्थः। अत्र 'जयति' इति क्रियापदस्य किमपि सहृदयहृदयसंवेद्यं वैचित्र्यं परिस्फुरदेव लक्ष्यते ।

सामने इस तटी [किनारे] को देखो ।

तट शब्द सभी लिङ्गों में प्रयुक्त हो सकता है । परन्तु कवि ने सौकुमार्यातिशय द्योतन के लिए यहाँ उसका प्रयोग केवल स्त्रीलिङ्ग में किया है ।

यहाँ तक सुबन्त पद के पूर्वार्द्ध अर्थात् प्रातिपादिक की वक्रता के अनेक भेद दिखलाए। इसी प्रकार तिङन्त पदों के पूर्वार्द्ध अर्थात् धातु, या क्रिया के वैचित्र्य के कुछ भेद आगे दिखलाते हैं ।

(झ) [तिङन्त] पद के पूर्वार्द्ध धातु का 'क्रियावैचित्र्यवक्रता' नामक वक्रता का और [नवां] भेद है । जहाँ क्रिया वैचित्र्य के प्रतिपादनपर रूप से वैदग्ध्य भङ्गी भणिति से रमणीय [क्रिया पदों के] प्रयोगों को कविगण प्रयुक्त करते हैं [वहाँ 'क्रिया-वक्रता' होती है] जैसे—

रतिक्रीडा के समय नङ्गी हो जाने के कारण करकिसलयों से जिनके दोनों नेत्र [पार्वती के द्वारा] बन्द कर लिए गये हैं ऐसे रुद्र का [तृतीय नेत्र को बन्द करने का और कोई उपाय न होने से] पार्वती द्वारा परिचुम्बित [चुम्बन करके ढंका हुआ] तृतीय नेत्र 'जयति' अर्थात् सर्वोत्कर्ष युक्त है ॥ ५८ ॥

यहाँ [शिव के तीनों नेत्रों के] बन्द करने का प्रयोजन अर्थात् साध्य, समान होने पर भी और [तीनों नेत्रों में] लोचनत्व समान होने पर भी देवी [पार्वती] के परिचुम्बन से जिसका निरोध [बन्द करना] सम्पादन किया गया है वह भगवान् [शिव] का तृतीय नेत्र 'जयति' अर्थात् सर्वोत्कर्ष से युक्त है । यह [इस श्लोक] वाक्य

---

१. गाथा सप्तशती ४५५ ।

यथा वा—

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः ।
त्रायान्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥५९॥[1]

अत्र नखानां सकललोकप्रसिद्धच्छेदनव्यापारव्यतिरेकि किमप्यपूर्वमेव प्रपन्नार्तिच्छेदनलक्षणं क्रियावैचित्र्यमुपनिबद्धम् ।

यथा च—

स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥६०॥[2]

अत्र च पूर्ववदेव क्रियावैचित्र्यप्रतीतिः ।

का अर्थ है । इसमें 'जयति' इस क्रियापद का सहृदयसंवेद्य कुछ अपूर्व वैचित्र्य स्फुरित होता हुआ प्रतीत होता है ।

[अथवा] जैसे ['क्रिया-वक्रता' का दूसरा उदाहरण]—

स्वयं अपनी इच्छा से सिंह [नृसिंह] रूप धारण किए हुए [मधुरिपु] विष्णु भगवान् के, अपनी निर्मल कान्ति से चन्द्रमा को खिन्न [लज्जित] करने वाले, शरणागतों के दुःखनाशन में समर्थ नख तुम सबकी रक्षा करें ॥ ५९ ॥

[यह ध्वन्यालोक के वृत्तिभाग का मङ्गलश्लोक है] इसमें नखों का सकललोक प्रसिद्ध जो छेदन व्यापार है उससे भिन्न प्रकार का शरणागतों के दुःखनाशन रूप कुछ अपूर्व क्रियावैचित्र्य उपनिबद्ध किया गया है । [अतः यह 'क्रियावक्रता' का उदाहरण है] ।

और जैसे [उसी 'क्रियावक्रता' का तीसरा उदाहरण]—

वह शम्भु [शिव] के बाण से उत्पन्न अग्नि तुम्हारे दुःख [और पापों] को भस्म करे ॥६०॥

यहाँ भी पूर्व [उदाहरण] के समान [सकललोकप्रसिद्ध अन्य वस्तुओं के दहन से भिन्न दुरित-दहन रूप कुछ अपूर्व] 'क्रियावैचित्र्य' की प्रतीति होती है ।

यह 'अमरुक-शतक' का दूसरा श्लोक है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽशुंकान्तं,
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः,
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥

---

१. ध्वन्यालोक मङ्गलाचरण ।
२. अमरुक-शतक २ ।

यथा च—

कण्णुप्पलदलमिलिअलोअरोहिं, हेलालोलणमाणिअअणअरोहिं ।
लोलइ लीलावईहि णिरुद्धओ, सिढिलअचाओ जअइ मअरद्धओ ॥६१॥
[कर्णोत्पलदलमिलितलोचनै र्हेलालोलनमानितनयनाभिः ।
लीलया लीलावतीभिर्निरुद्धःशिथिलीकृतचापो जयति मकरध्वजः ॥
इति संस्कृतम्]

अत्र लोचनैर्लीलया लीलावतीभिर्निरुद्धः स्वव्यापारपराङ्मुखीकृतः सन् शिथिलीकृतचापः कन्दर्पो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते इति किमुच्यते यतस्तास्तथाविधविजयावाप्तौ सत्यां जयन्तीति वक्तव्यम् ।

इसका अर्थ इस प्रकार है—

त्रिपुरदाह के समय शम्भु के बाण से समुद्भूत, त्रिपुर की युवतियों के द्वारा आर्द्रापराध [तत्कालकृत पराङ्गनोपभोगादि रूप अपराध से युक्त] कामी के समान हाथ छूने पर झटक दिया गया, ज़ोर से ताड़ित होने पर भी वस्त्र के छोर को पकड़ता हुआ, केशों को छूते समय हटाया गया, पैरों पर पड़ा हुआ भी सम्भ्रम [क्रोध या भय] के कारण न देखा गया, और आलिङ्गन करने [का प्रयत्न करते] पर आँसुओं से पूर्ण नेत्र कमल वाली [कामपक्ष में ईर्ष्या के कारण और अग्नि-पक्ष में बचाव की आशा रहित होने के कारण रोती हुई] त्रिपुर सुन्दरियों द्वारा तिरस्कृत [कामी पक्ष में प्रत्यालिङ्गन द्वारा स्वीकृत न करके और अग्नि-पक्ष में झटककर फेंका गया] ।

शम्भु का शराग्नि तुम्हारे दुःखों [अथवा पापों] को भस्म करे ।

और जैसे [उसी क्रियावैचित्र्य का चौथा उदाहरण]—

क्रीड़ा में हिलाते हुए कर्णोत्पलों के स्पर्श से नेत्रों को सम्मानित करने वाली, कानों के [भूषण रूप में धारण किये हुए] कमलों के पत्रों से मिलते हुए नेत्रों [के संकेत] से लीलावती [सुन्दरियों] के द्वारा; [अपने चापारोपण व्यापार से] रोका गया [अतएव] शिथिल धनुष वाला कामदेव [विजयी] सर्वोत्कर्ष युक्त होता है ॥६१॥

यहाँ [लीलावती] सुन्दरियों के द्वारा लीलापूर्वक [किये गये] नेत्रों [के संकेत] से रोका गया अर्थात् अपने [चापारोपण रूप] व्यापार से विमुख किया गया होकर शिथिल चाप वाला कामदेव 'जयति' अर्थात् सर्वोत्कर्ष से युक्त होता है । यह क्या कहते हैं [अर्थात् यह बात उतनी चमत्कारयुक्त नहीं है] क्योंकि [कामदेव के प्रयास के बिना ही अथवा उसके ऊपर भी] उस प्रकार की विजय-प्राप्ति सिद्ध हो जाने से [कामदेव नहीं अपितु] वह [सुन्दरियाँ] ही सर्वोत्कर्ष युक्त होती हैं । यह कहना चाहिए ।

तदयमत्राभिप्रायः—यत् तल्लोचनविलासानामेवंविधं जैत्रताप्रौढ़भावं पर्यालोच्य चेतनत्वेन स स्वचापारोपणायासमुपसंहृतवान्। यतस्तेनैव त्रिभुवन-विजयावाप्तिः परिसमाप्यते ममेति मन्यमानस्य तस्य सहायत्वोत्कर्षातिशयो 'जयति' इति क्रियापदेन कर्तृतायाः कारणत्वेन कवेश्चेतसि परिस्फुरितः। तेन किमपि क्रियावैचित्र्यमत्र तद्विदाह्लादकारि प्रतीयते।

यथा च—

तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वान्ति॥६२॥

अत्र 'जल्पन्ति' 'वदन्ति' इत्यादि न प्रयुक्तं, यस्मात् तानि कयापि विच्छित्त्या किमप्यनाख्येयं समर्पयन्तीति कवेरभिप्रेतम्।

इसका यह अभिप्राय है कि उनके नेत्रों के हावभावों [विलासों] के ही इस प्रकार की विजयशीलता प्रौढ़ता को विचारकर बुद्धिमान् [चेतन] होने से उस [कामदेव] ने अपने चापारोपण के प्रयत्न को समाप्त कर दिया। क्योंकि उसी [लीलावतियों के नेत्रविलास] से मेरी त्रिभुवन विजय सिद्ध हो जाती है ऐसा मानने वाले उस [कामदेव] के सहायकत्वोत्कर्ष का अतिशय [लीलावतियों के नेत्रविलास में] 'जयति' इस क्रिया पद से कर्तृत्व के कारणत्व रूप से कवि के हृदय में परिस्फुरित हुआ है [उसी को कवि ने इस रूप में यहाँ उपनिबद्ध कर दिया है]। उससे [जयति] इस क्रिया का सहृदयहृदया-ह्लादकारी कुछ अपूर्व वैचित्र्य यहाँ प्रतीत हो रहा है। [अतएव यह भी क्रिया-वैचित्र्य का सुन्दर उदाहरण है]।

और जैसे [इसी क्रिया वैचित्र्य का तीसरा उदाहरण पूर्वोक्त 'निद्रानिमीलित' इत्यादि ५१ श्लोक का निम्नभाग]—

[प्रियतमा के स्वप्न अथवा मदावस्था में उच्चारण किये हुए] वह अक्षर हृदय में कुछ अपूर्व ध्वनि करते हैं॥६२॥

यहाँ [कहने के अर्थ में] 'जल्पन्ति' या 'वदन्ति' आदि [पद] प्रयुक्त नहीं किए [अपितु 'ध्वनन्ति' पद का प्रयोग किया है]। क्योंकि वह [प्रियतमा के अव्यक्त शब्द] किसी अनिर्वचनीय शैली से किसी अनाख्येय वस्तु को समर्पित करते हैं। [उस अनिर्वच-नीय अनाख्येय अपूर्व वस्तु की अभिव्यक्ति 'जल्पन्ति', 'वदन्ति' आदि पदों से नहीं हो सकती है। अपितु 'ध्वनन्ति' पद से ही हो सकती है] यह कवि का अभिप्राय है। [इसीलिए उसने 'ध्वनन्ति' पद का ही प्रयोग किया है। यह 'क्रिया-वैचित्र्य' का तीसरा उदाहरण है]।

'वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रय' इति । वक्रभावस्यान्योऽपि प्रभेदो विद्यते । कीदृशः, 'प्रत्ययाश्रयः' । प्रत्ययः सुप् तिङ् च यस्याश्रयः स्थानं स तथोक्तः । तस्यापि बहवः प्रकाराः सम्भवन्ति, संख्यावैचित्र्यविहितः, कारक-वैचित्र्यविहितः, पुरुषवैचित्र्यविहितश्च । तत्र संख्यावैचित्र्यविहितः—यस्मिन वचनवैचित्र्यं काव्यबन्धशोभायै निबद्ध्यते । यथा—

मैथिली तस्य दाराः । इति ।।६३।।

यथा च—

फुल्लेन्दीवरकाननानि नयने पाणी सरोजाकराः ।।६४।।

अत्र द्विवचनबहुवचनयोः सामानाधिकरण्यमतीव चमत्कारकारि ।

इस प्रकार पद पूर्वार्द्ध वक्रता के १० भेदों का निरूपण कर अब वक्रता के मुख्य प्रकारों में से तीसरे भेद 'प्रत्यय वक्रता' का निरूपण करते हैं—

वक्रता का एक और [मुख्य भेदों में तीसरा] प्रकार 'प्रत्ययाश्रित' [प्रत्ययवक्रता] भी है । [वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः । यह इस १९वीं कारिका का उत्तरार्द्ध भाग है । उसको प्रतीक रूप से उद्धृत कर उसकी व्याख्या करते हैं] वक्रता का अन्य भेद भी है । कैसा कि, प्रत्यय के आश्रित रहने वाला । प्रत्यय अर्थात् सुप् या तिङ् [प्रत्यय] वह आश्रय अर्थात् स्थान है जिसका, वह उस प्रकार का [प्रत्ययाश्रय प्रभेद] है । उस [प्रत्यय वक्रता] के भी बहुत से भेद हो सकते हैं । [जैसे] (१) 'संख्यावैचित्र्यकृता;' (२) 'कारक-वैचित्र्यकृत; (३) पुरुष-वैचित्र्यकृत; [आदि] उनमें से संख्यावैचित्र्यकृत [प्रत्ययवक्रता उसको कहते हैं] जिसमें काव्य की शोभा के लिए वचनवैचित्र्य की रचना की जाती है जैसे—

मैथिली [सीता] उस [रामचन्द्र] की पत्नी हैं ।।६३।।

यहाँ 'मैथिली' एक वचन और 'दाराः' बहुवचन का प्रयोग है । उससे उक्ति में वैचित्र्य प्रतीत होता है । इसलिए यह 'वचनवक्रता' या 'प्रत्ययवक्रता' का उदाहरण है । इसके पूर्व यही पद्यांश 'लिङ्गवक्रता' के उदाहरण में प्रस्तुत किया जा चुका है । क्योंकि उसमें 'मैथिली' पद स्त्रीलिङ्ग तथा 'दाराः' पद पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है । इसलिए यह उदाहरण वस्तुतः 'लिङ्गवक्रता' और 'वचनवक्रता' अर्थात् 'प्रत्ययवक्रता' दोनों का दिया गया है ।

और जैसे [उसी वचनवक्रता रूप प्रत्ययवक्रता का दूसरा उदाहरण]—

[उसके] नेत्र खिले हुए कमलों के वन तथा दोनों हाथ कमलाकर हैं ।।६४।।

यहाँ [उपमेयभूत 'नयने' तथा 'पाणी' पदों में प्रयुक्त] द्विवचन और [उपमान भूत 'फुल्लेन्दीवरकाननानि' तथा 'सरोजाकराः' पदों में प्रयुक्त हुए] बहुवचन इन दोनों का समानाधिकरण्य [सह प्रयोग] अत्यन्त चमत्कारजनक है । [इसलिए यह संख्या-वैचित्र्यकृत 'प्रत्ययवक्रता' का उदाहरण है] ।

कारकवैचित्र्यविहितः—यत्राचेतनस्यापि पदार्थस्य चेतनत्वाध्यारोपेण चेतनस्यैव क्रियासमावेशलक्षणं रसादिपरिपोषणार्थं कर्तृत्वादिकारकं निबध्यते। यथा—

स्तनद्वन्द्वं मन्दं स्नपयति बलाद्बाष्पनिवहो
हठादन्तः कण्ठं लुठति सरसः पञ्चमरवः।
शरज्ज्योत्स्नापाण्डुः पतति च कपोलः करतले
न जनीमस्तस्याः क इव हि विकारव्यतिकरः ॥६५॥

अत्र वाष्पनिवहादीनामचेतनानामपि चेतनाध्यारोपेण कविना कर्तृत्वमुपनिबद्धम्। यत्तस्या विवशायाः सत्यास्तेषामेवंविधो व्यवहारः सा पुनः स्वयं किञ्चिदप्याचरितुं समर्थेत्यभिप्रायः। अन्यच्च कपोलादीनां तदवयवानामेतदवस्थत्वं प्रत्यक्षतयाऽस्मदादिगोचरतामापद्यते। तस्याः पुनर्योऽसावन्तर्विकारव्यतिकरस्तं तदनुभवैकविषयत्वाद्वयं न जानीमः।

यथा च—

['प्रत्ययवक्रता' का दूसरा भेद] कारकवैचित्र्यकृत [होता है]—जहां अचेतन पदार्थ में भी चेतनत्व का अध्यारोप करके रसादि के परिषोषण के लिए [उनमें] चेतन की ही क्रिया का समावेश रूप कर्तृत्वादि कारक [के रूप में उस अचेतन पदार्थ] का वर्णन किया जाता है [वहाँ कारकवैचित्र्यकृत प्रत्ययवक्रता होती है] जैसे—

आँसुओं का प्रवाह धीरे-धीरे दोनों स्तनों को नहला रहा है, मधुर पञ्चम स्वर बलात् कण्ठ के भीतर अवरुद्ध हो रहा है और शरज्ज्योत्सना के समान धवलवर्ण कपोल तल हाथ पर पड़ा हुआ है। [उसका बाह्य रूप तो इस प्रकार है परन्तु] न जाने उसका [मानसिक-आन्तर] विकार किस प्रकार [अनिर्वचनीय] है ॥६५॥

यहाँ वाष्प निवह आदि अचेतन पदार्थों में भी चेतनत्व का अध्यारोप करके कवि ने [उनमें स्नपयति, लुठति और पतति क्रियाओं का] कर्तृत्व प्रतिपादन किया है। इसलिए कि उसके विवश होने पर उन [वाष्पनिवह आदि अचेतन कर्त्ताओं] का जब इस प्रकार का व्यवहार है तब स्वयं तो कुछ भी [मरण आदि असम्भाव्य कार्य] करने में समर्थ [हो सकती] है यह [कवि का] अभिप्राय है। और उसके कपोल आदि अवयवों की वह अवस्था प्रत्यक्ष रूप से हमको दिखाई देती है। परन्तु उसका जो यह अन्तर्विकार का सम्बन्ध है उसको, केवल उसी के अनुभवगोचर होने से हम नहीं जान सकते हैं [यह भी कवि का अभिप्राय कहा जा सकता है इसलिए यह क्रियावैचित्र्य का भेद है]।

और जैसे [क्रियावैचित्र्य का तीसरा उदाहरण]—

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्तिकेयो विजेयः
शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः ।
अस्त्यैवेतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां
बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ॥६६॥

यह श्लोक राजशेखरकृत बालरामायण नाटक के द्वितीय अङ्क से लिया गया है । परशुराम ने शिव से धनुर्विद्या सीखी थी, कार्तिकेय तथा कार्तवीर्य सहस्त्रार्जुन को जीतकर और समस्त क्षत्रियों का नाश करके समस्त पृथ्वी कश्यप को दान करदी थी । और अपने परशु के द्वारा समुद्र को दूर फेंक कर वहाँ अपना निवासस्थान बनाया था । तथा पिता की आज्ञा से अपनी माता रेणुका का गला काट दिया था । इत्यादि परशुराम सम्बन्धिनी कथा इस श्लोक की पृष्ठभूमि है । इसमें प्रयुक्त हुआ 'हन्तकार' शब्द एक पारिभाषिक शब्द है । उसका लक्षण करते हुए मार्कण्डेय पुराण में लिखा है—

ग्रासप्रमाणा भिक्षा स्यादग्रं ग्रासचतुष्टयम् ।
अग्रं चतुर्गुणं प्राहुर्हन्तकारं द्विजोत्तमाः ॥

अर्थात् ग्रास के परिमाण से भिक्षा दी जानी चाहिए । पहिले चार ग्रास भिक्षा कहलाते हैं । और उसके बाद के चतुर्गुण अर्थात् सोलह ग्रास को 'हन्तकार' कहते हैं । अर्थात् पहिले चार ग्रास योग्य भिक्षा प्रत्येक गृहस्थ सुविधा तथा प्रसन्नतापूर्वक दे सकता है । इसलिए वह तो उचित 'भिक्षा' है, बाद सोलह ग्रास तक की भिक्षा तनिक अनखाकर देता है । अतएव उसको 'हन्तकार' कहा है ।

इस श्लोक में 'विजितः' के अर्थ में 'विजेयः' शब्द का प्रयोग किया गया है इसलिए कृत्य प्रत्यय 'क्त' प्रत्यय के अर्थ में अवाचक है । ऐसा मानकर काव्यप्रकाशकार ने [श्लोक सं० २०१] पदैकदेशगत अवाचकत्व दोष के उदाहरण के रूप में इस श्लोक को उद्धृत किया है ।

बालरामायण में यह परशुराम के प्रति रावण की उक्ति है । चन्द्रिकाकार ने इसे परशुराम के प्रति रावण के दूत की उक्ति लिखा है जो ठीक नहीं है । श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

[हे परशुराम यह ठीक है कि] त्रिपुरविजयी [शिवजी तुम्हारे] धनुर्विद्या के आचार्य हैं और कार्तिकेय को तुमने जीत लिया है [विजितः प्रयुक्त होना चाहिए था, परन्तु उसके प्रयुक्त करने पर छन्दोभङ्ग हो जाता अतः कवि हे विजेयः का प्रयोग कर दिया है परन्तु वह उचित नहीं हुआ है] शस्त्र [परशु] से फेंका गया समुद्र [का जल उससे रिक्त हुआ स्थान] तुम्हारा घर है [यह भी ठीक है] यह पृथ्वी तुम्हारे द्वारा कश्यप को दी हुई [षोडशग्रासात्मिका भिक्षा] 'हन्तकार' है । यह सब ठीक है । फिर भी [व्यर्थ ही अपनी माता] रेणुका के कण्ठ को काटने वाले तुम्हारे परशु के साथ स्पर्धा [उसके साथ युद्ध का विचार करते हुए] करते हुए मेरी तलवार लज्जित होती है ॥६६॥

अत्र 'चन्द्रहासो लज्जत' इति पूर्ववत् कारकवैचित्र्यप्रतीतिः ।

पुरुषवैचित्र्यविहितं वक्रत्वं विद्यते—यत्र प्रत्यक्तापरभावविपर्यासं प्रयुञ्जते कवयः काव्यवैचित्र्यार्थं युष्मदि अस्मदि वा प्रयोक्तव्ये प्रातिपदिकमात्रं निबध्नन्ति । यथा—

अस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम् ॥६७॥

अत्र त्वं न जानासीति वक्तव्ये वैचित्र्याय 'देवो न जानाति' इत्युक्तम् । एवं युष्मदादिविपर्यासः क्रियापदं विना प्रातिपदिकमात्रेऽपि दृश्यते । यथा—

अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने
न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥६८॥

इसमें [अचेतन में चेतनत्व का अध्यारोप करके] तलवार लज्जित होती है इस [कथन] से पूर्ववत् कारकवैचित्र्य की प्रतीति होती है । [अतः यह कारकवैचित्र्य का तीसरा उदाहरण है] ।

[प्रत्ययवक्रता का तीसरा भेद] 'पुरुषवैचित्र्यवक्रत्व' [वहाँ होता] है, जहाँ प्रथम पुरुष का [मध्यम अथवा उत्तम पुरुष रूप] अन्य के साथ विपर्यास का कवि लोग प्रयोग करते हैं । [अर्थात्] काव्य के वैचित्र्य के लिए [मध्यमपुरुष बोधक] युष्मद् [शब्द] अथवा [उत्तमपुरुष बोधक] अस्मद् [शब्द] के प्रयोग करने के स्थान पर प्रातिपदिकमात्र [प्रथमपुरुष] का प्रयोग करते हैं । जैसे—

यदि आप [रावण] उस [लोकप्रसिद्ध रामचन्द्र] को नहीं जानते हैं [यह अभिमानवश कहते हैं] तो वह हमारे [लङ्कावासियों के] दुर्भाग्य से ही है [अर्थात् हमारे दुर्भाग्य का सूचक है । यह श्लोक जिसका यह चतुर्थ चरण है पीछे उदाहरण सं० ४३ पर उद्धृत किया जा चुका है] ॥६७॥

यहाँ 'त्वं न जानासि' तुम नहीं जानते इस [मध्यमपुरुष के] के स्थान पर 'देवो न जानाति' आप नहीं जानते [यह प्रथमपरुष प्रातिपदिक-मात्र का प्रयोग किया गया है । [उससे काव्य में चमत्कार उत्पन्न हो गया है । इसलिए यह 'पुरुषवक्रता' का उदाहरण है]।

इसी प्रकार क्रियापद के बिना प्रातिपदिकमात्र के प्रयोग से भी युष्मदादि पद का विपर्यास देखा जाता है । जैसे—

हे तपोधने ! यह सेवक कुछ पूछना चाहता है यदि कोई गोपनीय बात न हो तो उत्तर देने की कृपा करे ॥६८॥

अत्र 'अहं प्रष्टुकाम' इति वक्तव्ये ताटस्थ्यप्रतीत्यर्थं 'अयं जन' इत्युक्तम्।

यथा वा—

सोऽयं दम्भधृतव्रतः ॥६६॥ इति

अत्र सोऽहमिति वक्तव्ये पूर्ववत् अयम् इति वैचित्र्यप्रतीतिः।

एते च मुख्यतया वक्रताप्रकाराः कतिचिन्निदर्शनार्थं प्रदर्शिताः। शिष्टाश्च सहस्रशः सम्भवन्तीति महाकविप्रवाहे सहृदयैः स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयाः ॥१६॥

यहाँ 'मैं [उत्तमपुरुष] पूछना चाहता हूँ' यह कहने के स्थान पर उदासीनता के बोधन के लिए [अहं के स्थान पर] 'अयं जनः' 'यह सेवक' यह कहा है। [उससे भी उक्ति में चमत्कार आ गया है इसलिए यह भी 'पुरुषवक्रता' का उदाहरण है]।

यह पद्यांश कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग के ४०वें श्लोक का उत्तरार्द्ध भाग है। पूरा श्लोक इस प्रकार है।

अतोऽत्र किञ्चिद् भवतीं बहुक्षमां द्विजातिभावादुपपन्नचापलः।
अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥

अथवा जैसे [पुरुषवक्रता का तीसरा उदाहरण]—

वह यह मिथ्याव्रत धारण किए हुए [न जाने क्या करने पर उतर आया है] है ॥६६॥

[यह पूरा श्लोक पहिले आगे चतुर्थ उन्मेश में दिया जायगा] **इसमें 'सोऽहं' 'वह मैं' यह कहने के स्थान पर पूर्ववत् [उत्तम पुरुष के स्थान पर प्रथम पुरुष 'यह' प्रयुक्त किया है] उससे उक्ति में वैचित्र्य की प्रतीति हो रही है।**

यह वक्रता के मुख्य रूप से कुछ भेद उदाहरणार्थ [यहाँ] दिखला दिए हैं। और भी सैकड़ों भेद हो सकते हैं। इसलिए सहृदय लोग महाकवियों के प्रवाह में [उन भेदों को] स्वयं देख लें ॥१६॥

इस प्रकार इस १६वीं कारिका में वक्रता के निम्न भेद गिनाए हैं—

[१] वर्णविन्यासवक्रता [जिसे प्राचीन आचार्य अनुप्रास और यमक कहते हैं]।

[२] पदपूर्वार्द्धवक्रता [अर्थात् प्रातिपदिक वक्रता तथा धातु वक्रता अथवा क्रिया वक्रता] 'प्रातिपदिक वक्रता' रूप पदपूर्वार्द्ध वक्रता के निम्न भेद दिखलाये हैं-

[क] रूढ़िवैचित्र्य वक्रता जिसके अन्तर्गत (अ) वाच्यप्रसिद्ध धर्मान्तराध्यारोप और (ब) वाच्यप्रसिद्धधर्म में लोकोत्तरातिशयाध्यारोप।
इनको प्राचीन ध्वनिवादी 'आचार्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य-ध्वनि' कहते हैं।

[ख] पर्यायवक्रता के दो भेद—(अ) प्रस्तुतानुगुण विशेष पर्यायपद का प्रयोग और (ब) वाच्यासम्भविधर्मान्तरगर्भीकृत पर्याय पद का प्रयोग। इन दोनों

एवं वाक्यावयावानां पदानां प्रत्येकं वर्णाद्यवयवद्वारेण यथासम्भवं वक्रभावं व्याख्याय, इदानीं पदसमुदायभूतस्य वाक्यस्य वक्रता व्याख्यायते—

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा ।
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ।।२०।।

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यः । वाक्यस्य पदसमुदायभूतस्य । 'आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्' इति यस्य प्रतीतिस्तस्य श्लोकादेर्वक्रभावो

प्रकार के प्रयोगों को मम्मट आदि ने परिकारालङ्कार माना है जिसका लक्षण निम्न प्रकार है—

'विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः'

ग. उपचारवक्रता के २ भेद—(क) अमूर्त के लिए मूर्तवाचक शब्द का प्रयोग और (ख) ठोस द्रव्य के लिए द्रववाचक शब्द का प्रयोग।

घ. विशेषणवक्रता के दो उदाहरण।

ङ. संवृतिवक्रता के दो उदाहरण ।

च. वृत्तिवैचित्र्यवक्रता या सम्बन्धवक्रता के दो उदाहरण ।

छ. लिङ्गवैचित्र्य या लिङ्गवक्रता के दो भेद—(अ) भिन्न लिङ्गों का समानाधिकरण और (ब) सौकुमार्यातिशय के द्योतन के लिए केवल स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग ।

ज. क्रियावैचित्र्य रूप पदपूर्वार्द्ध वक्रता के पाँच उदाहरण—

(ग) प्रत्ययाश्रित वक्रता—

(अ) संख्यावैचित्र्यकृतवक्रता, (ब) कारकवैचित्र्यकृतवक्रता और (स) पुरुषवैचित्र्यकृतवक्रता । यह तीन भेद ।

इस प्रकार वाक्य के अवयवभूत पदों में प्रत्येक के अलग-अलग वर्णादि अवयवों के द्वारा यथासम्भव वक्रता को दिखलाकर अब पदों के समुदाय भूत वाक्य की वक्रता का प्रतिपादन करते हैं—

वाक्य का वक्रभाव [पदवक्रता से भिन्न] अन्य ही है । जिसके सहस्रों भेद हो सकते हैं। और जिसमें यह [उपमादि रूप प्रसिद्ध] समस्त अलङ्कार वर्ग का अन्तर्भाव हो जायगा ।।२०।।

वाक्य की वक्रता [पदवक्रता से] अन्य है। वाक्य की, अर्थात् पदसमुदाय रूप [वाक्य] की। 'अव्यय, कारक, विशेषण [आदि] से युक्त क्रिया [आख्यात] वाक्य [कहलाती] है' इस प्रकार [के लक्षण द्वारा] जिसकी प्रतीति होती है उस [वाक्य] श्लोकादि [रूप वाक्य] का वक्रभाव अर्थात् वर्णन-शैली का वैचित्र्य अन्य अर्थात्

भङ्गीभणितिवैचित्र्यं, अन्यः पूर्वोक्तवक्रताव्यतिरेकी समुदायवैचित्र्यनिबन्धनः कोऽपि सम्भवति। यथा—

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं[1]
वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः।
त्वामाश्रयं प्राप्य तया नु कोपात्
सोढाऽस्मि न त्वद्भवने वसन्ती ॥७०॥

एतत् सीतया तथाविधकरुणाक्रान्तान्तःकरणया बल्लभं प्रति सन्दिश्यते। यदुपस्थितां सेवासमापन्नां लक्ष्मीमपास्य श्रियं परित्यज्य, पूर्वं यस्त्वं मया सार्धं वनं प्रपन्नो विपिनं प्रयातस्तस्य तव स्वप्नेऽप्येतन्न सम्भाव्यते। तया पुनस्तस्मादेव कोपात् स्त्रीस्वभावसमुचितसपत्नीविद्वेषात् त्वद्गृहे वसन्ती न सोढाऽस्मि।

तदिदमुक्तं भवति—यत् तस्मिन् विधुरदशाविसंष्ठुलेऽपि समये तथा-

पूर्वोक्त [(१) वर्णविन्यासवक्रता, (२) पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा (३) प्रत्ययाश्रित-वक्रता] वक्रता से भिन्न, समुदाय [रूप वाक्य] वैचित्र्यमूलक [वाक्य का] कुछ अपूर्व वक्रभाव हो सकता है। जैसे—

[यह रघुवंश का १४, ६० श्लोक है। इसमें परित्यक्ता सीता लक्ष्मण के लौटते समय उनके द्वारा रामचन्द्र के पास यह सन्देश भेज रही है कि] पहिले [राज्याभिषेक के समय सेवार्थ] उपस्थित हुई लक्ष्मी को छोड़कर तुम मेरे साथ वन को चले गये थे। इसलिए आज तुम्हारा आश्रय पाकर [सपत्नी सुलभ] क्रोध के कारण उसने तुम्हारे घर मेरा रहना सहना नहीं किया ॥७०॥

[परित्याग के समय] उस प्रकार के [अनिर्वचनीय] करुण [रस] से आक्रान्त हृदय वाली सीता पति के पास यह सन्देश भेज रही है कि—उपस्थित अर्थात् सेवा के लिए आई हुई लक्ष्मी को दूर करके अर्थात् श्री को छोड़कर, पहिले [राज्याभिषेक के समय] जो तुम [रामचन्द्र] मेरे साथ वन को चले गए [वह] तुमसे स्वप्न में भी यह [लक्ष्मी के अर्थात् अपने परित्याग की] आशा नहीं करती थी। [इसलिए आज] उसी क्रोध से स्त्री-स्वभाव के अनुरूप सपत्नी-विद्वेष के कारण [बदला लेने के लिए] उसने तुम्हारे घर में [रहती हुई मुझ को सहन नहीं किया।] मेरा रहना सहन नहीं किया।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि [वनवास के समय की] उस दुःखमयी अवस्था के

---

१. रघुवंश १४, ६०।

विधप्रसादास्पदतामध्यारोप्य यदिदानीं साम्राज्ये निष्कारणपरित्यागतिरस्कार-पात्रतां नीताऽस्मि, इत्येतदुचितमनुचितं वा विदितव्यवहारपरम्परेण भवता स्वयमेव विचार्यतामिति ।

स च वक्रभावस्तथाविधो यः सहस्रधा भिद्यते बहुप्रकारं भेदमासादयति । सहस्रशब्दोऽत्र संख्याभूयस्त्वमात्रवाची, न नियतार्थवृत्तिः, यथा सहस्रदलमिति । यस्मात् कविप्रतिभानन्त्यान्नियतत्वं न सम्भवति । योऽसौ वाक्यस्य वक्रभावो बहुप्रकारः, न जानीमस्तं कीदृशमित्याह—'यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति' । यत्र यस्मिन्नसावलङ्कारवर्गः कविप्रवाहप्रसिद्धप्रतीतिरुपमादिरलङ्करणकलापः सर्वः सकलोऽप्यन्तर्भविष्यति अन्तर्भावं व्रजिष्यति । पृथक्त्वेन नावस्थास्यते, तत्प्रकारभेदत्वेनैव व्यपदेशमासादयिष्यतीत्यर्थः । स चालङ्कारवर्गः स्वलक्षणावसरे प्रतिपदमुदाहरिष्यते ॥२०॥

एवं वाक्यवक्रतां व्याख्याय वाक्यसमूहरूपस्य प्रकरणस्य तत्समुदायात्मकस्य च प्रबन्धस्य वक्रता व्याख्यायते—

कठिन समय में भी उस प्रकार की कृपापात्रता प्रदान करके अब साम्राज्य पाने पर [आपने] जो मुझ को निष्कारण परित्याग से तिरस्कार का पात्र बना दिया है यह [आपके लिए] उचित है अथवा अनुचित इसका व्यवहारपरम्परा को समझने वाले आपको स्वयं विचार करना चाहिए ।

और वह [वाक्य का] वक्रभाव ऐसा है जिसके सहस्रों भेद हो सकते हैं । सहस्र शब्द यहाँ केवल संख्या के बाहुल्य का वाचक है, निश्चित अर्थ [१०००] का बोधक नहीं । जैसे सहस्रदलम् [पद कमल के लिए प्रयुक्त होता है । उसमें भी सहस्र शब्द नियत सहस्र संख्या का नहीं अपितु संख्या बाहुल्य का वाचक है] । क्योंकि कवि प्रतिभा के अनन्त होने से [कविप्रतिभाजन्य वाक्यवक्रता का भी] नियतत्व सम्भव नहीं है । यह जो वाक्य का बहुत प्रकार का वक्रभाव है वह कैसा है उसको हम नहीं जानते [यह शङ्का हो सकती है] इसलिए कहते हैं—जिसमें यह [प्रसिद्ध उपमादि] सारा अलङ्कार समुदाय अन्तर्भूत हो जायगा । यत्र यस्मिन् जिस [वाक्य-वक्रता] में कवि समुदाय में प्रसिद्ध प्रतीति वाला यह सारा अलङ्कार वर्ग अर्थात् उपमा आदि अलङ्कार समुदाय सब का सब अन्तर्भूत हो जायगा अर्थात् अन्तर्भाव को प्राप्त हो जायगा । अलग स्थित नहीं रह सकेगा । उस [वाक्यवक्रता] के प्रकार या भेद के रूप में ही व्यवहृत होगा । यह अभिप्राय है । उस अलङ्कार वर्ग के [अलङ्कारों के] अपने लक्षणों के अवसर पर अलग-अलग उदाहरण दिये जावेंगे ॥२०॥

इस प्रकार [संक्षेप से] 'वाक्यवक्रता' का प्रतिपादन [निर्देश या उद्देश्यमात्र] करके [अब] वाक्यसमूह रूप 'प्रकरण' और 'प्रकरण समुदाय' रूप प्रबन्ध की वक्रता का प्रतिपादन करते हैं—

वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धे वास्ति यादृशः ।
उच्यते सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः ॥२१॥

वक्रभावो विन्यासवैचित्र्यं, प्रबन्धैकदेशभूते प्रकरणे यादृशोऽस्ति यादृशो विद्यते, प्रबन्धे वा नाटकादौ सोऽप्युच्यते कथ्यते। कीदृशः,'सहजाहार्यसौकुमार्य-मनोहरः' । सहजं स्वाभाविकं, आहार्यं व्युत्पत्त्युपार्जितं, यत्सौकुमार्यं रामणीयकं तेन मनोहरो हृदयहारी यः स तथोक्तः ।

तत्र प्रकरणे वक्रभावो यथा—रामायणे मारीचमायामयमाणिक्यमृगानुसारिणो रामस्य करुणाक्रन्दाकर्णनकातरान्तःकरणया जनकराजपुत्र्या तत्प्राणपरित्राणाय स्वजीवितपरिरक्षानिरपेक्षया लक्ष्मणो निर्भर्त्स्य प्रेषितः ।

तदेतदत्यन्तमनौचित्ययुक्तम् । यस्मादनुचरसन्निधाने प्रधानस्य तथा-विधव्यापारकरणमसम्भावनीयम् । तस्य च सर्वातिशयचरितयुक्तत्वेन वर्ण्य-

---

[वाक्य समुदायात्मक] 'प्रकरण' अथवा [प्रकरण-समुदायात्मक] 'प्रबन्ध' में सहज [स्वाभाविक] और आहार्य [व्युत्पत्ति द्वारा उपार्जित] सौकुमार्य से मनोहर जिस प्रकार का वक्रभाव है उसको [भी इस २१वीं कारिका में] कहते हैं ॥२१॥

वक्रभाव अर्थात् रचनावैचित्र्य, प्रबन्ध [काव्य नाटक आदि] के एकदेश [अवयव] भूत 'प्रकरण' में जैसा है, अथवा [प्रकरण-समुदायात्मक] 'प्रबन्ध' अर्थात् नाटकादि में जैसा [वक्रभाव] है वह भी [इस कारिका में] कहा जाता है । कैसा कि सहज और आहार्य सौकुमार्य से मनोहर । सहज माने स्वाभाविक और आहार्य माने व्युत्पत्ति से उपार्जित जो सौकुमार्य अर्थात् सौन्दर्य उससे मनोहर हृदयहारी जो वह उस प्रकार का 'सहजाहार्यसौकुमार्यमनोहरः' हुआ ।

उनमें से प्रकरण में वक्रभाव का उदाहरण जैसे—रामायण में छद्मधारी स्वर्णमय मारीच मृग के पीछे जाने वाले रामचन्द्र के करुण आक्रन्दन को सुनकर भयभीत अन्तःकरण वाली जनकराज की पुत्री [सीता] ने उनके प्राणों की रक्षा करने के लिए अपने जीवन की रक्षा की पर्वाह न करके डाँट-डपटकर लक्ष्मण को भेजा है ।

यह [वर्णन] अत्यन्त अनुचित हुआ है । क्योंकि अनुचर [रूप लक्ष्मण] के समीप विद्यमान होने पर भी प्रधान [रामचन्द्र] का [मृग को मारने या पकड़ने के लिए जाने रूप] उस प्रकार का करना असम्भव-सा है । [अर्थात् जब लक्ष्मण वहाँ विद्यमान थे और वे सीता तथा राम की सब प्रकार की सेवा करते थे । तो इस समय मृग के पीछे उनका जाना ही अधिक युक्तिसङ्गत हो सकता है । राम का जाना नहीं । यह एक प्रकार का अनौचित्य रामायण के वर्णन में पाया जाता है । इसके अतिरिक्त इसी प्रसङ्ग में दूसरे प्रकार का अनौचित्य यह पाया

मानस्य तेन कनीयसा प्राणपरित्राणसम्भावनेत्येतदत्यन्तमसमीचीनमिति पर्यालोच्य, 'उदात्तराघवे' कविना वैदग्ध्यवशेन मारीचमृगमारणाय प्रयातस्य परित्राणार्थं लक्ष्मणस्य, सीतया कातरत्वेन रामः प्रेरित इत्युपनिबद्धम्।

अत्र च तद्विदाह्लादकारित्वमेव वक्रत्वम्।

यथा च 'किरातार्जुनीये' किरातपुरुषोक्तिषु वाच्यत्वेन स्वमार्गणमार्गणमात्रमेवोपक्रान्तम्। वस्तुतः पुनरर्जुनेन सह तात्पर्यार्थपर्यालोचनया विग्रहो 'वाक्यार्थतामुपनीतः।

जाता है कि] काव्य के मुख्य पात्र [वर्ण्यमान] और सर्वातिशय युक्त चरित्र वाले [काव्य नायक] उस [रामचन्द्र] के प्राणों की रक्षा छोटे [भाई] के द्वारा किये जाने की सम्भावना यह [भी] अत्यन्त अनुचित है। यह [ही] विचार कर [वर्तमान समय में अप्राप्य किन्तु दशरूपक के श्लोक में हेमचन्द्र द्वारा तथा साहित्य-दर्पण आदि में उद्धृत] 'उदात्तराघव' [नामक नाटक] में वैदग्ध्य के वशीभूत [कवि ने] मारीच मृग के मारने के लिए गये हुए लक्ष्मण के परित्राण के लिए कातर होकर सीता ने राम को प्रेरित किया है इस प्रकार का वर्णन किया है।

इस [उदात्तराघव के वर्णन] में सहृदयाह्लादकारित्व ही वक्रत्व है। [यह प्रकरण वक्रता का उदाहरण हुआ। इसी का दूसरा उदाहरण आगे किरातार्जुनीय काव्य में से देते हैं]।

और जैसे 'किरातार्जुनीय' [भारवि निर्मित काव्य] में किरात पुरुष के वचनों में वाच्य रूप से केवल अपने बाणों की खोज मात्र का वर्णन किया है। परन्तु वास्तव में तात्पर्यार्थ की पर्यालोचना से अर्जुन के साथ युद्ध [उस प्रकरण की] वाक्यार्थता को प्राप्त हुआ है। [अर्थात् युद्ध की भूमिका बांधी गई है]।

किरातार्जुनीय महाकाव्य में व्यास मुनि के आदेश से दिव्यास्त्र की प्राप्ति के लिए अर्जुन की तपस्या का वर्णन है। उसी तपस्या के प्रसङ्ग में ग्यारहवें सर्ग में मुनिरूपधारी इन्द्र, अर्जुन के आश्रम में आकर और संवाद के बाद प्रत्यक्ष होकर अर्जुन, को शिव की आराधना का उपदेश देते हैं। उस परामर्श के अनुसार अर्जुन शिव की आराधना में तत्पर हो जाते हैं। उसी अवसर पर वराह रूप धारण कर एक मूकदानव अर्जुन के बध के लिए आता है। उससे अर्जुन की रक्षा और परीक्षा के लिए शिवजी किरात का रूप धारण कर और किरात वेषधारी अपने गणों की सेनासहित मृगया के व्याज से अर्जुन के आश्रम के समीप आते हैं। यह कथा बारहवें सर्ग तक की है। तेरहवें सर्ग में उस वराह रूपधारी मूकदानव के ऊपर किरात-वेषधारी शिव तथा अर्जुन दोनों एक साथ बाण छोड़ते हैं। जिसमें अर्जुन का बाण लगने से वराह की मृत्यु हो जाती है। अर्जुन उसके समीप जाकर उसके शरीर में से

तथा च तत्रैवोच्यते—

प्रयुज्य सामाचरितं विलोभनं,
भयं विभेदाय धियः प्रदर्शितम् ।
तथाभियुक्तं च शिलीमुखार्थिना,
यथेतरन्न्याय्यमिवावभासते ॥७१॥

अपना बाण निकालने लगते हैं। उसी समय शिव जी का भेजा हुआ वनेचर सैनिक आकर कहता है कि यह बाण हमारे सेनापति का है। अतः तुम उसको दे दो अन्यथा तुम्हारे लिए अच्छा नहीं होगा। वनेचर का यहाँ पर बड़ा लम्बा वक्तव्य है। जो इस प्रकार प्रारम्भ होता है—

शान्तता विनययोगि मानसं भूरिधाम विमलं तपः श्रुतम् ।
प्राह ते नु सदृशी दिवौकसामन्ववायमवदातमाकृतिः ॥ १३, ३७ ॥

इसमें साम से अपने कथन का प्रारम्भ किया है। उसके बाद ५१वें श्लोक में अपने सेनापति के साथ मित्रता का प्रलोभन दिखलाते हुए वनेचर कहता है—

मित्रमिष्टमुपकारि संशये मेदिनीपतिरयं तथा च ते ।
तं विरोध्य भवता निरासि मा सज्जनैकवसतिः कृतज्ञता ॥१३, ५१॥

उसके बाद ६१वें श्लोक में भय का प्रदर्शन भी किया है—

शक्तिरर्थपतिषु स्वयंग्रहं प्रेम कारयति वा निरत्ययम् ।
कारणद्वयमिदं निरस्यतः प्रार्थनाधिकबले विपत्फला ॥१३, ६१॥
तत् तितिक्षितमिदं मया मुनेरित्यवोचत वचश्चभूपतिः ।
बाणमत्रभवते निजं दिशन्नाप्नुहि त्वमपि सर्वसम्पदः ॥१३, ६८॥

३७ से लेकर ७१ तक ३४ श्लोकों में वनेचर ने साम, दाम, दण्ड, भेद सब प्रकार का प्रयोग कर अर्जुन से बाण दे देने को कहा है। वह वस्तुतः शिव तथा अर्जुन के युद्ध की भूमिका है। यही इस प्रकरण की वक्रता है। वनेचर के कथन का उत्तर १४वें सर्ग में अर्जुन ने दिया है। उसी में से यह श्लोक यहाँ उद्धृत किया है। उसमें वनेचर के वचनों का निर्देश करते हुए अर्जुन कहते हैं कि—

जैसा कि वहीं कहा है—

[सबसे पहिले अपने वक्तव्य के प्रारम्भ में 'शान्तता' आदि १३, ३७ श्लोक में तुमने] साम का प्रयोग करके [फिर मित्रमिष्टमुपकारि इत्यादि ५१वें श्लोक में अपने राजा के साथ मित्रता का] लोभ दिखलाया है। उसके बाद ['शक्तिरर्थपतिषु' ६१ तथा 'तत् तितिक्षितं' मुनेः इत्यादि ६८ तक अनेक श्लोकों में] विचार को बदल देने के लिए भय भी दिखाया है। और इस बाण को लेने के लिए इस प्रकार का कथन तुमने किया है जिससे अन्याय्य बात भी [अन्यत्] न्याय्य-सी प्रतीत होने लगती है ॥७१॥

प्रबन्धे वक्रभावो यथा—कुत्रचिन्महाकविविरचिते रामकथोपनिबन्धे नाटकादौ पञ्चविधवक्रतासामग्रीसमुदायसुन्दरं सहृदयहृदयहारि महापुरुषवर्णनमुपक्रमे प्रतिभासते। परमार्थतस्तु विधिनिषेधात्मकधर्मोपदेशः पर्यवस्यति, रामवद्वर्तितव्यं न रावणवदिति।

यथा च तापसवत्सराजे कुसुमसुकुमारचेतसः सरसविनोदैकरसिकस्य नायकस्य चरितवर्णनमुपक्रान्तम्। वस्तुतस्तु व्यसनार्णवे निमज्जन्निजो राजा तथाविधनयव्यवहारनिपुणैरमात्यैस्तैस्तैरुपायैरुत्तारणीय इत्युपदिष्टम्। एतच्च

अर्जुन के पास जब किरात वेषधारी शिव सेना सहित आये हैं तब वह युद्ध के लिए तैयार होकर ही आये हैं। वराह को मारने के लिए अर्जुन के साथ यद्यपि उन्होंने भी बाण छोड़ा था परन्तु वह वराह के नहीं लगा लक्ष्यभ्रष्ट होकर कहीं अन्यत्र चला गया। वराह का बध शिव के बाण से नहीं अपितु अर्जुन के बाण से हुआ था। फिर भी शिव को तो युद्ध का एक बहाना ढूंढ़ना था इसलिए अर्जुन के बाण पर ही शिव जी ने अपना अधिकार जमाने का यह प्रयास किया है। और उनके इस प्रयास से अर्जुन के साथ युद्ध का अवसर मिल गया है। इस प्रकार यह बाण की खोज का बहाना वस्तुतः युद्ध की भूमिका मात्र है। यही इस सारे प्रकरण का सौन्दर्य या 'वक्रता' है। इसी के लिए कुन्तक ने इस प्रकरण को यहाँ उद्धृत किया है। 'प्रकरण-वक्रता' के बाद आगे 'प्रबन्ध-वक्रता' को दिखलाते हुए कहते हैं—

प्रबन्ध [रामायण महाभारत आदि महाकाव्य या नाटक आदि] में वक्रभाव [का उदाहरण] जैसे—किसी महाकवि के बनाए हुए, रामकथामूलक नाटक आदि में [१. वर्णविन्यासवक्रता, २. पदपूर्वार्द्धवक्रता, ३. प्रत्ययाश्रितवक्रता ४. वाक्यवक्रता और ५. प्रकरणवक्रता] इस पांच प्रकार की वक्रता से सुन्दर सहृदयहृदयाह्लादकारी [नायक रूप] महापुरुष का वर्णन ऊपर से [मोटे रूप से] किया गया प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में [कवि का प्रयोजन केवल उस महापुरुष के चरित्र का वर्णन करना मात्र नहीं होता है अपितु] 'राम के समान आचरण करना चाहिए रावण के समान नहीं' इस प्रकार का विधि और निषेधात्मक धर्म का उपदेश [उस काव्य या नाटक का] फलितार्थ होता है। [यही उस प्रबन्ध काव्य आदि की वक्रता या सौन्दर्य है]।

और जैसे तापसवत्सराज [नाटक] में कुसुम के समान सुकुमारचित्त और मधुर विनोद के रसिक नायक [उदयन] के चरित्र का वर्णन प्रारम्भ किया है। परन्तु वास्तव में [उदयन के समान] किसी विपत्ति में पड़ जाने पर [उदयन के मंत्री यौगन्धरायण के समान] उस प्रकार के नीति-व्यवहार में निपुण मंत्री उस-उस प्रकार के [चातुर्यपूर्ण अनेक] उपायों से अपने राजा का उद्धार करें यह उपदेश [उस नाटक की रचना द्वारा उसके निर्माता कवि ने] दिया है। [इसीलिए काव्यप्रकाश-कार आदि ने

स्वलक्षणव्याख्यानावसरे व्यक्ततामायास्यति ।

एवं कविव्यापारवक्रताषट्कमुद्देशमात्रेण व्याख्यातम् । विस्तरेण तु स्वलक्षणावसरे व्याख्यास्यते ॥२१॥

क्रमप्राप्तत्वेन बन्धोऽधुना व्याख्यायते—

वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः ।
व्यापारशाली वाक्यस्य विन्यासो बन्ध उच्यते ॥२२॥

विन्यासो विशिष्टं न्यसनं यः सन्निवेशः स एव व्यापारशाली 'बन्ध' उच्यते । व्यापारोऽत्र प्रस्तुतकाव्यक्रियालक्षणः । तेन शालते श्लाघते यः स

व्यवहार ज्ञान को भी काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है]। यह बात [नाटकादि के] अपने लक्षण [अथवा स्वलक्षण अर्थात् विशेष लक्षण] के व्याख्यान के अवसर स्पष्ट हो जायगी ।

इस प्रकार कविव्यापार [काव्य] की वक्रता के [१. वर्णविन्यासवक्रता, २ पद-पूर्वार्द्धवक्रता, ३. प्रत्ययाश्रितवक्रता, ४. वाक्यवक्रता, ५. प्रकरणवक्रता और ६. प्रबन्ध-वक्रता रूप] छः वक्रताएँ उद्देश-मात्र [नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनं उद्देशः, नाम मात्र से वस्तु का कथन करना 'उद्देश' कहलाता है] से कह दी हैं [अर्थात् उनके नाममात्र यहाँ गिना दिये हैं] विस्तारपूर्वक अपने लक्षण के अवसर पर व्याख्यान करेंगे ॥२१॥

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥१, ७॥

सातवीं कारिका में काव्य का लक्षण इस प्रकार किया था । उसके बाद १५वीं कारिका तक इस काव्य-लक्षण के शब्दार्थौ पदों की व्याख्या की गई है । १६, १७ कारिकाओं में उन शब्दार्थ के 'साहित्य' का विवेचन किया गया है । उसके बाद १८ से २१वीं कारिका तक छः प्रकार की कवि 'व्यापारवक्रता' का संक्षिप्त उद्देश-मात्रेण कथन किया गया है । इस प्रकार यहाँ तक 'शब्दार्थौ', 'सहितौ,' 'वक्रकविव्यापारशालिनि' इन तीन पदों की व्याख्या कर दी गई । अब लक्षण में आए हुए 'बन्ध' पद की व्याख्या प्रारम्भ करते हुए कहते हैं ।

क्रम से प्राप्त होने के कारण अब 'बन्ध' की व्याख्या करते हैं—

वाच्य [अर्थ] तथा वाचक [शब्द] के [चेतनचमत्कारित्व रूप] सौभाग्य तथा [रचना सौदर्न्य रूप] लावण्य के परिपोषक व्यापार से युक्त वाक्य की रचना को 'बन्ध' कहते हैं ॥२२॥

विन्यास अर्थात् विशेष रूप से [शब्दों का] रखना रूप जो सन्निवेश है वह ही व्यापारयुक्त [होने पर] 'बन्ध' कहलाता है । व्यापार [का अर्थ] यहाँ प्रस्तुत काव्य

तथोक्तः । कस्य, वाक्यस्य श्लोकादेः । कीदृशः, 'वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषकः' । वाच्यवाचकयोर्द्वयोरपि वाच्यस्याभिधेयस्य वाचकस्य च शब्दस्य वक्ष्यमाणं सौभाग्यलावण्यलक्षणं यद् गुणद्वयं तस्य परिपोषकः, पुष्टतातिशयकारी । सौभाग्यं प्रतिभासंरम्भफलभूतं चेतनचमत्कारित्वलक्षणम् । लावण्यं सन्निवेशसौन्दर्यम् । तयोः परिपोषकः ।

यथा च—

दत्वा वामकरं नितम्बफलके लीलावलन्मध्यया,
प्रोत्तुङ्गस्तनमंसचुम्बिचिबुकं कृत्वा तया मां प्रति ।
प्रान्तप्रोतनवेन्द्रनीलमणिमन्मुक्तावलीविभ्रमाः,
सासूयं प्रहिताः स्मरज्वरमुचो द्वित्राः कटाक्षच्छटाः ॥७२॥

रचना रूप है । जो उससे शोभित या प्रशंसित हो वह 'व्यापारशाली' । किसका [विन्यास] वाक्य अर्थात् श्लोकादि का । कैसा [विन्यास] कि वाच्य [अर्थ] और वाचक [शब्द] के [चेतनचमत्कारित्व रूप] 'सौभाग्य' तथा [सन्निवेशसौन्दर्य रूप] 'लावण्य' का परिपोषक । वाच्य वाचक दोनों के ही । वाच्य अर्थात् अभिधेय [अर्थ] और वाचक शब्द का, जो आगे कहा जाने वाला 'सौभाग्य' और 'लावण्य' रूप जो गुणद्वय उसका परिपोषक अर्थात् पुष्टातातिशय को करने वाला । 'सौभाग्य' अर्थात् प्रतिभा के प्रभाव का फलरूप [चेतन] सहृदय चमत्कारित्व । [और] 'लावण्य' अर्थात् रचना का सौन्दर्य उन दोनों का परिपोषक । [वाक्य का विन्यास बन्ध कहलाता है] जैसे—

[यह कवीन्द्रवचन० में का २१३वां श्लोक है] लीला [अर्थात् अदा] से कमर झुकाए हुए, बाएँ हाथ को नितम्ब पर रखकर, स्तन को ऊँचा करके और ठोड़ी को कन्धे से लगा करके उसने मेरे प्रति किनारे पर लगी हुई नवीन इन्द्रनील मणि से युक्त मुक्ताओं की पंक्ति के समान सुन्दर और कामज्वर को [देने या] छोड़ने वाले तीन [बार] ईर्ष्या सहित कटाक्ष किए ॥७२॥

इसका अभिप्राय यह है कि उसने मुड़कर मेरी ओर दो-तीन बार कटाक्ष से देखा । 'मुड़कर' इस बात को कहने के लिए कवि ने श्लोक के पहिले दोनों चरण लगा दिए हैं । उनमें उसने मुड़ने के समय की अवस्था का बड़ा सुन्दर शब्दचित्र खींचा है । पीछे की ओर अधिक मुड़ने पर ही ठोड़ी का कन्धे से स्पर्श हो सकता है । जब ठोड़ी कन्धे को स्पर्श करेगी उस समय दूसरी ओर के स्तन का कुछ ऊँचा हो जाना ऊपर को खिच जाना स्वाभाविक ही है । और कमर भी मुड़ जाती है । और उस मुड़ती हुई कमर पर हाथ रखना भी स्वाभाविक है । इस प्रकार पूर्वार्द्ध में नायिका के मुड़ने का बड़ा सुन्दर वर्णन है । तीसरे चरण में आँख के सफ़ेद भाग के बीच की काली पुतली का वर्णन करने के लिए कवि ने किनारे पर नई जड़ी हुई इन्द्रनील मणि से युक्त

अत्र समग्रकविकौशलसम्पाद्यस्य चेतनचमत्कारित्वलक्षणस्य सौभाग्यस्य कियन्मात्रवर्णविन्यासविच्छित्तिविहितस्य पदसन्धानसम्पदुपार्जितस्य च लावण्यस्य परः परिपोषो विद्यते ॥२२॥

एवञ्च स्वरूपमभिधाय तद्विदाह्लादकारित्वमभिधत्ते—

वाच्यवाचकवक्रोक्तित्रितयातिशयोत्तरम् ।
तद्विदाह्लादकारित्वं किमप्यामोदसुन्दरम् ॥२३॥

तद्विदाह्लादकारित्वं काव्यविदानन्दविधायित्वम्। कीदृशम् 'वाच्यवाचकवक्रोक्तित्रितयातिशयोत्तरम्'। वाच्यमभिधेयं, वाचकं शब्दो, वक्रोक्तिरलङ्करणम्। एतस्य त्रितयस्य योऽतिशयः कोऽप्युत्कर्षस्तस्मादुत्तरमतिरिक्तम्, स्वरूपेणातिशयेन च स्वरूपेणान्यत् किमपि तत्वान्तरमेतदतिशयेन एतस्मात् त्रितयादपि

मुक्तावली को उपमान कल्पित किया है। फिर 'स्मरज्वरमुचो द्वित्राः कटाक्षच्छटा प्रहिताः' कहा है। और वह भी 'सासूयम्'। यह सब कुछ ही बहुत सुन्दर है। उसमें शब्दों का भी सौन्दर्य है और अर्थ का भी। इसी प्रकार का वाच्यवाचक के सौभाग्य और लावण्य का परिपोषक वाक्यविन्यास कुन्तक को 'बन्ध' पद से अभिप्रेत है।

इसमें समस्त कवि कौशल से सम्पादन करने योग्य चेतन चमत्कारित्व रूप 'सौभाग्य' का, और थोड़े से वर्णविन्यास के सौन्दर्य से उत्पन्न तथा पदों के जोड़ने के सौन्दर्य से उपार्जित 'लावण्य' का अत्यन्त परिपोष हो रहा है। [इसी प्रकार के वाक्यविन्यास को 'बन्ध' कहते हैं] ॥ २२ ॥

इस प्रकार [बन्ध का] स्वरूप दिखलाकर सहृदयाह्लादकारित्व कहते हैं—

वाच्य [अर्थ], वाचक [शब्द] और वक्रोक्ति [अलङ्कार] इन तीनों के [लोकोत्तर] अतिशय से भरा हुआ [युक्त] और रञ्जकत्व [आमोद] से रमणीय कुछ अपूर्व [वस्तुधर्म] ही [तद्विदाह्लादकारित्व] सहृदयहृदयाह्लादकत्व है। ॥२३॥

'तद्विदाह्लादकारित्व' [का अर्थ] काव्यमर्मज्ञों का आनन्ददायकत्व है। कैसा [वह तद्विदाह्लादकारित्व] कि—वाच्य, वाचक और वक्रोक्ति तीनों के अतिशय से युक्त। वाच्य अर्थात् अभिधेय [अर्थ], वाचक शब्द, और अलङ्कार रूप 'वक्रोक्ति' इन तीनों का जो अतिशय अर्थात् कोई अनिर्वचनीय उत्कर्ष उससे उत्तर—अर्थात् अतिरिक्त [लोकोत्तर] स्वरूप से और अतिशय से [दोनों से लोकोत्तर, साधारण लौकिक वस्तु से भिन्न हो जाता है]। स्वरूप से अन्य [अर्थात् लौकिक साधारण वस्तु] इस अतिशय से कुछ और ही तत्वान्तर हो जाता है। [वाच्य, वाचक तथा वक्रोक्ति या अलङ्कार] इन तीनों [के अतिशय] से [तो वह] लोकोत्तर [हो जाता है] यह अभिप्राय है।

लोकोत्तरमित्यर्थः ।

अन्यच्च कीदृशम्—'किमप्यामोदसुन्दरम्' । किमप्यव्यपदेश्यं सहृदयहृदयसंवेद्यं, आमोदः सुकुमार-वस्तुधर्मो रञ्जकत्वं नाम, तेन सुन्दरं रञ्जकत्वरमणीयम् । यथा—

हंसानां निनदेषु यैः कवलितैरासज्यते कूजता-
मन्यः कोऽपि कषायकण्ठलुठनादाघर्घरो विभ्रमः ।
ते सम्प्रत्यकठोरवारणवधूदन्तांकुरस्पर्धिनो,
निर्याताः कमलाकरेषु बिसिनीकन्दाग्रिमग्रन्थयः ॥७३॥

अत्र त्रितयेऽपि वाच्यवाचकवक्रोक्तिलक्षणे प्राधान्येन न कश्चिदपि कवेः संरम्भो विभाव्यते । किन्तु प्रतिभावैचित्र्यवशेन किमपि तद्विदाह्लादकारित्वमुन्मीलितम् ।

यद्यपि सर्वेषामुदाहरणानामविकलकाव्यलक्षणपरिसमाप्तिः सम्भवति तथापि यत् प्राधान्येनाभिधीयते स एवांशः प्रत्येकमुद्रिक्ततया तेषां परिस्फुरतीति सहृदयैः स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम् ॥२३॥

और वह कैसा कि-'किसी अपूर्व आमोद अर्थात् रञ्जकत्व धर्म से सुन्दर' । 'कुछ' अनिर्वचनीय सहृदयहृदयसंवेद्य जो 'आमोद' अर्थात् रञ्जकत्व नाम का सुकुमार [सुन्दर कोमल] वस्तु का धर्म, उससे सुन्दर अर्थात् रञ्जकत्व [विशेष] से रमणीय [वर्णन को तद्विदाह्लादकारी कहते हैं ।] जैसे [निम्नलिखित श्लोक में]—

जिनके खाने से कूजने वाले हंसों के स्वरों में [मधुर कण्ठ के संयोग से] कुछ अपूर्व ही घर्घर-ध्वनि युक्त सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है । हथिनी के नवीन दन्तांकुरों से स्पर्धा करने वाली मृणाल की वे नवीन ग्रन्थियाँ इस समय तालाबों में बाहर निकल आई हैं ॥ ७३ ॥

यहाँ [इस श्लोक में] वाच्य [अर्थ] वाचक [शब्द] तथा वक्रोक्ति [अलङ्कार] तीनों के विषय में ही प्रधान रूप से [किया गया] कवि का कोई भी विशेष प्रयत्न नहीं मालूम होता है । [बिलकुल स्वाभाविक रूप से कवि की प्रतिभा के कारण इस प्रकार की सुन्दर रचना बन गई है] किन्तु प्रतिभा के वैचित्र्य के कारण कुछ अपूर्व ही सहृदयहृदयाह्लादकत्व [उस रचना में] प्रकट हो रहा है ।

यद्यपि [शब्द, अर्थ, उनके साहित्य, कविव्यापारवक्रता अथवा बन्ध आदि की व्याख्या के प्रसङ्ग में जितने भी उदाहरण दिखलाए हैं उन] सब में ही काव्य का सम्पूर्ण लक्षण घटित हो सकता है [अर्थात् वे केवल उस एक अंश का ही उदाहरण नहीं हैं अपितु पूर्ण काव्यलक्षण के उदाहरण हैं] फिर भी [उनमें से] प्रत्येक में जो-जो अंश प्रधान रूप से बतलाया गया है वहीं प्रत्येक में मुख्य रूप से प्रतीत होता है यह बात सहृदय स्वयं समझ सकते हैं ॥ २३ ॥

एवं काव्यसामान्यलक्षणमभिधाय तद्विशेषलक्षणविषयप्रदर्शनार्थं मार्ग-भेदनिबन्धनं त्रैविध्यमभिधत्ते—

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ॥२४॥

तत्र तस्मिन् काव्ये मार्गाः पन्थानस्त्रयः सम्भवन्ति । न द्वौ न चत्वारः । स्वरादिसंख्यावत् तावतामेव वस्तुतस्तज्ज्ञैरुपलम्भात् । ते च कीदृशाः-'कविप्रस्थानहेतवः' । कवीनां प्रस्थानं प्रवर्तनं तस्य हेतवः, काव्यकरणस्य कारण-भूताः। किमभिधानाः-'सुकुमारो, विचित्रश्च, मध्यमश्चेति' । कीदृशो मध्यमः-'उभयात्मकः' । उभयमनन्तरोक्तं मार्गद्वयमात्मा यस्येति विग्रहः । छायाद्वयोप-जीवीत्युक्तं भवति । तेषां च स्वलक्षणावसरे स्वरूपमाख्यास्यते ।

अत्र च बहुविधा विप्रतिपत्तयः सम्भवन्ति । यस्माच्चिरन्तनैर्विदर्भादि-देशविशेषसमाश्रयेण वैदर्भीप्रभृतयो रीतयस्तिस्रः समाख्याताः । तासां चोत्त-

---

इस प्रकार काव्य के सामान्य लक्षण को कहकर उसके विशेष लक्षण के विषय को प्रदर्शित करने के लिए मार्गभेदमूलक त्रैविध्य को कहते हैं—

उस [काव्य] में (१) सुकुमार, (२) विचित्र और उभयात्मक अर्थात् (३) मध्यम [यह तीन प्रकार के] जो मार्ग सम्भव हैं [उनको कहते हैं] ।२४।

तत्र अर्थात् उस काव्य में तीन मार्ग हो सकते हैं। न दो और न चार [केवल तीन ही मार्ग सम्भव हैं] । स्वर आदि की [निश्चित सात] संख्या के समान उतने [नियत रूप से तीन] ही [मार्गों] के सहृदयों द्वारा उपलब्ध होने से [तीन ही प्रकार के मार्ग हैं । कम या अधिक नहीं] । और वे [मार्ग] किस प्रकार के होते हैं—कवियों के [काव्य-रचना रूप कार्य के लिए] प्रस्थान [प्रवृत्ति] के हेतु। कवियों का प्रस्थान अर्थात् [काव्य-रचना में] प्रवर्तन, उसके 'हेतु' अर्थात् काव्य-रचना के हेतुभूत। किस नाम के—(१) 'सुकुमार, (२) विचित्र और (३) मध्यम'। मध्यम [मार्ग] कैसा—उभयात्मक अर्थात् अभी कहे हुए [सुकुमार तथा विचित्र] दोनों मार्ग जिसका स्वरूप हैं [वह उभयात्मक हुआ] यह [उभयात्मक शब्द का] विग्रह है। अर्थात् [सुकुमार और विचित्र] दोनों की छाया से युक्त, यह अभिप्राय है। उनका [मार्गों का] स्वरूप उनके अपने लक्षणों के अवसर पर कहेंगे।

यहाँ [मार्गों के इस त्रित्ववाद के सम्बन्ध में] अनेक प्रकार के मतभेद हो सकते हैं। क्योंकि प्राचीन [वामन आदि] आचार्यों ने विदर्भादि देश विशेष के आश्रय

माधममध्यमत्ववैचित्र्येण त्रैविध्यम्। अन्यैश्च वैदर्भगौड़ीयलक्षणं मार्गद्वितयमाख्यातम्। एतच्चोभयमप्ययुक्तियुक्तम्। यस्माद्देशभेदनिबन्धनत्वे रीतिभेदानां देशानामानन्त्यादसंख्यत्वं प्रसज्येत। न च विशिष्टरीतियुक्तत्वेन काव्यकरणं मातुलेयभगिनीविवाहवद् देशधर्मतया व्यवस्थापयितुं शक्यम्। देशधर्मो हि वृद्धव्यवहारपरम्परामात्रशरणः शक्यानुष्ठानतां नातिवर्तते। तथाविधकाव्यकरणं पुनः शक्त्यादिकारणकलापसाकल्यमपेक्षमाणं न शक्यते यथाकथञ्चिदनुष्ठातुम्।

न च दाक्षिणात्यगीतविषयसुस्वरतादिध्वनिरामणीयकवत्तस्य स्वाभाविकत्वं वक्तुं पार्यते। तस्मिन् सति तथाविधकाव्यकरणं सर्वस्य स्यात्। किञ्च

से वैदर्भी आदि तीन रीतियों[1] का वर्णन किया है। और उनके उत्तम, मध्यम, और अधम रूप से तीन भेद किए हैं। और [दण्डी आदि] अन्यों[2] ने वैदर्भ तथा गौड़ीय रूप दो मार्गों का वर्णन किया है। ये [वामन तथा दण्डी] दोनों ही [के मत] युक्ति सङ्गत नहीं [कहे जा सकते] हैं। क्योंकि [वामन के मतानुसार] रीतियों को देश-भेद के आधार पर मानने से तो देशों के अनन्त होने से रीति भेदों की भी अनन्तता होने लगेगी। और देशविशेष के व्यवहार के आधार पर ममेरी बहिन [मातुल, का पुत्र मातुलेय, ममेरा भाई, मातुलेय-भगिनी ममेरी बहिन] के विवाह के समान [विशेष देश में उसकी] विशिष्ट रीति से युक्त रूप में काव्य-रचना की व्यवस्था नहीं की जा सकती है। [अर्थात् जैसे किसी देश में ममेरी बहिन के साथ विवाह प्रचलित हो तो केवल उस देश की प्रथा के आधार पर वहीं वहाँ किया जा सकता है। परन्तु इस प्रकार केवल देश-भेद के आधार पर काव्य की व्यवस्था नहीं की जा सकती है] क्योंकि देश-धर्म केवल वृद्धों की व्यवहार-परम्परामात्र पर आश्रित है इसलिए उसका अनुष्ठान [उस देश में] अशक्य नहीं है। परन्तु उस प्रकार की [सहृदयहृदयाह्लादकारी] काव्य-रचना [देश विशेष पर तो आश्रित नहीं है। वह तो] शक्ति [काव्य-प्रतिभा और व्युत्पत्ति] आदि कारण समुदाय की पूर्णता की अपेक्षा रखती है। इसलिए [देश-धर्म के समान केवल विदर्भ या पाञ्चाल में रहने मात्र से वैदर्भी या पाञ्चाली रीतिमयी काव्य-रचना] जैसे-तैसे नहीं की जा सकती है।

और न दाक्षिणात्यों के सङ्गीत विषयक सुस्वरतादि रूप, ध्वनि की रमणीयता के समान उस [काव्य-रचना] को स्वाभाविक कहा जा सकता है। [क्योंकि] वैसा [काव्य-रचना का स्वाभाविकत्व] होने पर सब कोई उस प्रकार का [सहृदय-

---

१. वामन काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति अधि० १, अध्याय २, सूत्र ६ से १३ तक।

२. दण्डी काव्यादर्श १, ४१।

शक्तौ विद्यमानायामपि व्युत्पत्यादिराहार्यकारणसम्पत् प्रतिनियतदेशविषयतया न व्यवतिष्ठते। नियमनिबन्धनाभावात् तत्रादर्शनाद्, अन्यत्र च दर्शनात्।

न च रीतीनामुत्तमाधममध्यत्वभेदेन त्रैविध्यं व्यवस्थापयितुं न्याय्यम्। यस्मात् सहृदयाह्लादकारिकाव्यलक्षणप्रस्तावे वैदर्भीसदृशसौन्दर्यासम्भवान्मध्यमाधमयोरुपदेशवैयर्थ्यमायाति। परिहार्यत्वेनाप्युपदेशो न युक्ततामवलम्बते। तैरेवानभ्युपगतत्वात्। न चागतिकगतिन्यायेन यथाशक्ति दरिद्रदानादिवत् काव्यं

हृदयाह्लादकारी] काव्य बनाने लगेंगे। और [यदि शक्ति को सबमें स्वाभाविक मान भी लिया जाय तो] शक्ति के होने पर भी व्युत्पत्ति आदि आहार्य कारण सामग्री [भी काव्य-रचना के लिए अपेक्षित होती है। वह] प्रतिनियत देश के विषय रूप से स्थित नहीं होती है। [अर्थात् शक्ति को स्वाभाविक मान लिया जाय तो भी और शेष व्युत्पत्ति आदि आहार्य सामग्री देश विशेष के आधार पर प्राप्त होती है यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उस व्युत्पत्ति आदि के किसी देश विशेष में ही होने का] (१) नियम न होने से, (२) उस देश में [भी कुछ विशिष्ट कवियों के अतिरिक्त अन्यों में] न होने से, और (३) अन्यत्र [अन्य देशों में भी] देखे जाने से। [व्युत्पत्यादि कारण सामग्री को किसी देश विशेष में सीमित नहीं किया जा सकता है। इसलिए देश विशेष के आधार पर वैदर्भी आदि रीतियों का मानना उचित नहीं है]।

[वामन आदि ने देश विशेष के आधार पर रीतियों के जो वैदर्भी आदि नामकरण किए हैं वे तो दूषित हैं ही, परन्तु उनके साथ ही उपादेयता के तारतम्य के अनुसार रीतियों के जो उत्तम, मध्यम और अधम इस प्रकार के तीन भेद किए हैं उनका भी खण्डन करते हैं] और न उत्तम, अधम, मध्यम रूप से रीतियों का त्रैविध्य स्थापित करना ही उचित है। क्योंकि सहृदयहृदयाह्लादकारी काव्य की रचना में वैदर्भी के समान सौन्दर्य [अन्य भेदों में] असम्भव होने से [वैदर्भी युक्त काव्य ही सहृदयहृदयाह्लादकारी हो सकता है। अन्य नहीं। इसलिए] मध्यम और अधम [के सहृदयहृदयाह्लादकारी न होने से उन] का उपदेश व्यर्थ हो जाता है। [यदि यह कहना चाहो कि मध्यम तथा अधम रीतियों अर्थात् गौड़ी तथा पाञ्चाली का उपदेश उनके] परित्याग करने के लिए किया गया है [तो] यह [कथन भी] युक्तियुक्त नहीं है। [क्योंकि] वे [रीतिकार वामन] ही इसको नहीं मानते हैं। [अर्थात् गौड़ी या पांचाली रीति का उपदेश उनके परित्याग के लिए किया गया यह रीतिकार वामन का सिद्धान्त नहीं है। वे तीनों रीतियों को उपादेय रूप में ही प्रतिपादन करते हैं]। और न, जितनी शक्ति हो उसके अनुसार [थोड़ा-बहुत] दरिद्रों को दान करने के समान [यथाशक्ति भला-बुरा] काव्य करने योग्य हो सकता है। [अपितु सहृदयहृदयाह्लादकारी काव्य ही बनाना चाहिए। मध्यम या अधम काव्य की रचना नहीं करना चाहिए। इसलिए

करणीयतामर्हति । तदेवं निर्वचनसमाख्यामात्रकरणकारणत्वे देशविशेषाश्रयणस्य वयं न विवदामहे । मार्गद्वितयवादिनामप्येतान्येव दूषणानि । तदलमनेन निःसारवस्तुपरिमलनव्यसनेन ।

कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समञ्जसतां गाहते । सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति, शक्तिशक्तिमतोरभेदात् । तया च तथाविधसौकुमार्यरमणीयां व्युत्पत्तिमाबध्नाति । ताभ्याञ्च सुकुमारवर्त्मनाभ्यासतत्परः क्रियते ।

तथैव चैतस्माद् विचित्रः स्वभावो यस्य कवेस्तद्विदाह्लादकारिकाव्यलक्षणकरणप्रस्तावात् सौकुमार्यव्यतिरेकिणा वैचित्र्येण रमणीय एव, तस्य च काचिद् विचित्रैव तदनुरूपा शक्तिः समुल्लसति । तया च तथाविधवैदग्ध्यबन्धुरां व्युत्पत्तिमाबध्नाति । ताभ्याञ्च वैचित्र्यवासनाधिवासितमानसो विचित्रवर्त्मनाभ्यासभाग् भवति ।

रीतियों के उत्तम, मध्यम, अधम रूप से वामन आदि ने जो तीन भेद किए हैं वे भी नहीं किए जा सकते हैं] इस प्रकार देश विशेष के आश्रय से [रीतियों के केवल] निर्वचन [अथवा] नामकरण के विषय में ही हमारा विवाद नहीं है । [अपितु उनके स्वरूप के विषय में भी मतभेद है] । मार्ग-द्वितयवादी [अर्थात् वैदर्भ तथा गौड़ीय नाम से दो प्रकार के मार्गों को मानने वाले भामह तथा दण्डी] के मत में भी यही दोष हैं । इसलिए [देश भेद के आधार पर रीति अथवा मार्गों का भेद मानने जैसी] निःसार वस्तु की अधिक आलोचना [परिमलन व्यसन] व्यर्थ है ।

आगे अपना सिद्धान्त कहते हैं कि देश भेद के स्थान पर] कवियों के स्वभाव-भेद के आधार पर किया गया काव्य-मार्ग का भेद युक्तिसङ्गत हो सकता है । सुकुमार स्वभाव वाले कवि की उसी प्रकार की [सुकुमार] सहज शक्ति उत्पन्न होती है । शक्ति तथा शक्तिमान् के अभिन्न होने से । और उस [सहज सुकुमार शक्ति] से उस प्रकार की [सहज] सौकुमार्य से रमणीय व्युत्पत्ति को प्राप्त करता है । [उस सहज सुकुमार शक्ति तथा उससे उपार्जित सुकुमार व्युत्पत्ति] उन दोनों के द्वारा सुकुमार मार्ग से ही [काव्य-निर्माण के] अभ्यास में तत्पर होता [या किया जाता] है ।

उसी प्रकार जिस कवि का तद्विदाह्लादकारी काव्य-निर्माण की [प्रस्ताव] दृष्टि से इस [सुकुमार स्वभाव] से विचित्र अर्थात् सौकुमार्य को छोड़कर [अन्य प्रकार के] वैचित्र्य से रमणीय ही स्वभाव होता है, उसको उसी प्रकार की [सौकुमार्य से भिन्न] कोई विचित्र तदनुरूप शक्ति प्राप्त होती है । और उससे उसी प्रकार की वैदग्ध्यमयी सुन्दर व्युत्पत्ति को प्राप्त करता है । और उन [विचित्र शक्ति तथा विचित्र व्युत्पत्ति] दोनों से वैचित्र्य की वासना के अधिवासित मन वाला [वह कवि] विचित्र मार्ग से [काव्य-निर्माण का] अभ्यास करता है ।

एवमेतदुभयकविनिबन्धन-संवलितस्वभावस्य कवेस्तदुचितैव शबलशोभातिशयशालिनी शक्तिः समुदेति । तथा च तदुभयपरिस्पन्दसुन्दरव्युत्पत्त्युपार्जनमाचरति । ततस्तच्छायाद्वितयपरिपोषपेशलाभ्यासपरवशः सम्पद्यते ।

तदेवमेते कवयः सकलकाव्यकरणकलापकाष्ठाधिरूढिरमणीयं किमपि काव्यमारभन्ते, सुकुमारं विचित्रमुभयात्मकञ्च । त एव तत्प्रवर्तननिमित्तभूता मार्गा इत्युच्यन्ते ।

यद्यपि कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वादनन्तभेदभिन्नत्वमनिवार्यं, तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन त्रैविध्यमेवोपपद्यते । तथा च रमणीयकाव्यपरिग्रहप्रस्तावे स्वभावसुकुमारस्तावदेको राशिः । तद्व्यतिरिक्तस्यारमणीयस्यानुपादेयत्वात् । तद्व्यतिरेकी रामणीयकविशिष्टो विचित्र इत्युच्यते । तदेतयोर्द्वयोरपि रमणीयत्वादेतदीयच्छायाद्वितयोपजीविनोऽन्यस्य रमणीयत्वमेव न्यायोपपन्नं पर्यवस्यति । तस्मादेषां प्रत्येकमस्खलितस्वपरिस्पन्दमहिम्ना तद्विदाह्लादकारित्वपरिसमाप्तेर्न कस्यचिन्न्यूनता ।

इसी प्रकार [सुकुमार और विचित्र स्वभाव वाले] इन दोनों प्रकार के, कवि के मूलभूत स्वभाव से युक्त कवि की उसी के योग्य मिश्रित शोभाशालिनी कोई शक्ति उत्पन्न होती है । उस [शबल शक्ति] से उन दोनों प्रकार के स्वभाव से सुन्दर व्युत्पत्ति को प्राप्त करता है और उसके बाद उन दोनों की छाया के परिपोष से सुन्दर अभ्यास करने वाला हो जाता है ।

इस प्रकार ये [तीनों प्रकार के] कवि [अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर] काव्य-रचना के समस्त साधन-समुदाय के चरम सीमा को प्राप्त सौन्दर्य से युक्त कुछ अपूर्व सुकुमार [अपूर्व] विचित्र और [अपूर्व] उभयात्मक काव्य का निर्माण करते हैं । वे ही [सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक तीन प्रकार के] उन [कवियों] को प्रवृत्त करने वाले 'मार्ग' कहलाते हैं ।

यद्यपि कवि स्वभावभेदमूलक होने से [कवियों और उनके स्वभावों के अनन्त होने से 'मार्गों' का भी] अनन्तत्व प्राप्त होना अनिवार्य है परन्तु उसकी गणना असम्भव होने से साधारणतः त्रैविध्य ही युक्तिसङ्गत है । इसलिए रमणीय काव्य के ग्रहण करने के प्रसङ्ग में (१) सुकुमारस्वभाव [काव्य] एक [प्रथम] भेद है । उससे भिन्न अरमणीय [काव्य] के अनुपादेय होने से । (२) उस [सुकुमार] से भिन्न और रमणीयता विशिष्ट [दूसरा भेद] 'विचित्र' कहलाता है । इन दोनों के ही रमणीय होने से इन दोनों की छाया [द्वितय] पर आश्रित (३) [उभयात्मक] अन्य [तीसरे मध्यम भेद] का भी रमणीयत्व [मानना] ही युक्तिसङ्गत है । इसलिए इन [तीनों भेदों] में अलग-अलग अपने-अपने निर्दोष स्वभाव से तद्विदाह्लादकारित्व की [परिसमाप्ति] पूर्णता होने से किसी की न्यूनता नहीं है । [तीनों ही भेद उत्तम काव्य हो सकते हैं । उभयात्मक-मार्ग को मिश्रित रचना-शैली की दृष्टि से ही मध्यम-मार्ग कहा है] ।

ननु च शक्त्योरान्तरतम्यात् स्वाभाविकत्वं वक्तुं युज्यते, व्युत्पत्यभ्यासयोः पुनराहार्ययोः कथमेतद् घटते।

नैष दोषः, यस्मादास्तां तावत्काव्यकरणम्, विषयान्तरेऽपि सर्वस्य कस्यचिदनादिवासनाभ्यासाधिवासितचेतसः स्वभावानुसारिणावेव व्युत्पत्यभ्यासौ प्रवर्तेते । तौ च स्वभावाभिव्यञ्जनेनैव साफल्यं भजतः । स्वभावस्य तयोश्च परस्परमुपकार्योपकारकभावेनावस्थानात्, स्वभावस्तावारभते तौ च तत्परिपोषमातनुतः । तथा चाचेतनानामपि भावः स्वभावसंवादिभावान्तरसन्निधानमाहात्म्याद्भिव्यक्तिमासादयति, यथा चन्द्रकान्तमणयश्चन्द्रमसः करपरामर्शवशेन स्यन्दमानसहजरसप्रसराः सम्पद्यन्ते ॥२४॥

ऊपर के अनुच्छेद में यह कहा है कि 'मार्गों' का भेद देश-भेद के आधार पर नहीं अपितु कवियों के स्वभाव के आधार पर करना उचित होगा । और इसके पूर्व काव्य का कारण शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास इन तीन को बतलाया है । इस पर शङ्का यह हो सकती है कि इनमें से शक्ति को तो स्वाभाविक कहा जा सकता है परन्तु व्युत्पत्ति तथा अभ्यास यह दोनों तो स्वाभाविक नहीं 'आहार्य' है । तब तन्मूलक काव्य में स्वभाव भेद को भेदक कैसे माना जा सकता है । इसी शङ्का का समाधान करने के लिए ग्रन्थकार ने अगला अनुच्छेद लिखा है ।

[प्रश्न (१) सुकुमार और (२) विचित्र] दोनों प्रकार की शक्तियों के आन्तरिक होने से [उनका] स्वाभाविकत्व कहा जा सकता है । परन्तु व्युत्पत्ति तथा अभ्यास [ये दोनों] तो [बाहर से प्राप्त होने वाले] आहार्य हैं । उनका यह [स्वाभाविकत्व] कैसे बन सकता है ? [अर्थात् व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है । अतएव काव्यमार्गों का विभाजन स्वभाव के आधार पर करना उचित नहीं है] ।

[उत्तर] यह दोष ठीक नहीं है । क्योंकि काव्य-रचना की बात छोड़ दें तो भी, अन्य विषयों में भी अनादि वासना के अभ्यास से संस्कृत-चित्त वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुसार ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास होता है । और वह व्युत्पत्ति तथा अभ्यास स्वभाव की अभिव्यक्ति द्वारा ही सफलता प्राप्त करते हैं । स्वभाव तथा [व्युत्पत्ति और अभ्यास] उन दोनों के उपकार्य और उपकारक भाव से स्थित होने से स्वभाव उन दोनों [व्युत्पत्ति तथा अभ्यास] को उत्पन्न करता है और वे [व्युत्पत्ति तथा अभ्यास] दोनों उस [स्वभाव] को परिपुष्ट करते हैं । इसलिए अचेतन [पदार्थों] का स्वभाव भी अपने स्वभाव के अनुरूप अन्य पदार्थों के सन्निधान के प्रभाव से अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है । जैसे चन्द्रकान्तमणियाँ चन्द्रमा की किरणों के स्पर्शमात्र से स्वाभाविक रूप से जल को प्रवाहित करने लगती हैं ।

अर्थात् चन्द्रकान्तमणि का जो स्वभाव है वही चन्द्र की किरणों के स्पर्श से

तदेवं मार्गानुद्दिश्य तानेव क्रमेण लक्षयति—

अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः ।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः ॥२५॥
भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः ।
रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दरः ॥२६॥
अविभावितसंस्थानरामणीयकरञ्जकः ।
विधिवैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः ॥२७॥

अभिव्यक्त होता है। इसी प्रकार कवि का जो सुकुमार अथवा विचित्र स्वभाव है वही उसकी व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से उसकी रचनाओं में अभिव्यक्त होता है। और जिस प्रकार का उसका स्वभाव होता है उसी प्रकार की व्युत्पत्ति अर्थात् शिक्षा तथा अभ्यास वह प्राप्त करता है। इसलिए यद्यपि व्युत्पत्ति तथा अभ्यास 'आहार्य' हैं स्वाभाविक नहीं, फिर भी साधारणतः स्वभाव के अनुसार ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होता है। और उनसे ही उसके स्वभाव की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए व्युत्पत्ति और अभ्यास का स्वभाव से सम्बन्ध मानना अनिवार्य है। अतः स्वभाव के आधार पर काव्यमार्गों का विभाजन करने में कोई आपत्ति नहीं है। यह कुन्तक के सिद्धान्तपक्ष का अभिप्राय है॥२४॥

इस प्रकार मार्गों का उद्देश [नाममात्र से कथन, नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनं उद्देशः] करके [अब आगे] क्रम से उन्हीं के लक्षण [२५ से २९ तक की अगली पाँच कारिकाओं में सुकुमार मार्ग का ३४—४३ तक विचित्र-मार्ग का और ४९—५२ तक मध्यम-मार्ग का लक्षण किया गया है। पहिले सुकुमार-मार्ग का लक्षण प्रारम्भ] करते हैं—

[कवि की अम्लान] नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से उद्भिन्न नवीन शब्द और [लोकोत्तर] अर्थ से मनोहर, और अनायास [स्वाभाविक रूप से बिना प्रयत्न के] रचे गए परिमित सुन्दर अलङ्कारों से युक्त, [सुकुमार मार्ग है] ॥२५॥

पदार्थ के स्वभाव के प्राधान्य से, बनावटी [आहार्य] कौशल की उपेक्षा [तिरस्कार] करने वाला, रसादि के रहस्य [तत्व] को समझने वाले सहृदयों के मन के अनुरूप होने [मनःसंवाद] के कारण सुन्दर, [सुकुमार मार्ग है] ॥२६॥

[शब्दों द्वारा वर्णित न किया जा सकने के कारण] अज्ञात [अविभावित] रूप से स्थित सौन्दर्य से आह्लादित करने वाला, विधाता के वैदग्ध्य से उत्पन्न सृष्टि के [अलौकिक सौन्दर्य रूप] अतिशय के समान, [सुकुमार मार्ग है] ॥२७॥

यत् किञ्चनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्।
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते ॥२८॥
सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः ।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेव षट्पदाः ॥२९॥

'सुकुमाराभिधः सोऽयं, सोऽयं' पूर्वोक्तलक्षणः सुकुमारशब्दाभिधानः । येन मार्गेण सत्कवयः कालिदासप्रभृतयो गताः प्रयाताः, तदाश्रयेण काव्यानि कृतवन्तः । कथम्, 'उत्फुल्लकुसुमकाननेव षट्पदाः' । उत्फुल्लानि विकसितानि कुसुमानि पुष्पाणि यस्मिन् कानने वने, तेन षट्पदा इव भ्रमरा यथा । विकसित-कुसुमकाननसाम्येन तस्य कुसुमसौकुमार्यसदृशमाभिजात्यं द्योत्यते । तेषाञ्च भ्रमरसादृश्येन कुसुममकरन्दकल्पसारसंग्रहव्यसनिता ।

स च कीदृशः, यत्र यस्मिन् 'किञ्चनापि' कियन्मात्रमपि 'वैचित्र्यं' विचित्रभावो वक्रोक्तियुक्तत्वम् । 'तत्सर्वम्' अलङ्कारादि । 'प्रतिभोद्भवं'

जो कुछ भी वैचित्र्य प्रतिभा से उत्पन्न हो सकता है वह सब सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होता हुआ जहाँ शोभित होता है, [वह सुकुमार मार्ग है] ॥२८॥

जिससे मार्ग से [होकर] खिले हुए पुष्पों के वन में से भ्रमरों के समान सत्कवि जाते हैं यह वही सुकुमार संज्ञक मार्ग है ॥२९॥

इस प्रकार इन पाँच कारिकाओं में सुकुमार्ग मार्ग का लक्षण किया गया है। आगे वृत्तिकार उस लक्षण की व्याख्या आरम्भ करते हैं । परन्तु वृत्तिकार ने इन कारिकाओं की व्याख्या पाठ-क्रम से नहीं की है अपितु आर्थ-क्रम का अवलम्बन किया है। और सबसे पहिले अन्तिम कारिका की व्याख्या की है। उसके बाद क्रमशः २९-२८—२५-२६ और २७ अन्य कारिकाओं की व्याख्या की है। पहिले २९वीं अन्तिम कारिका की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं—

[२९वीं कारिका]—सुकुमार संज्ञक वह यह, अर्थात् सुकुमार नामक वह पहिले कहा हुआ यह [मार्ग है ।] जिस मार्ग से कालिदास आदि उत्तम कवि गए हैं अर्थात् उसके आश्रय से अपने काव्यों की रचना कर गए हैं। कैसे [गताः गए] खिले हुए कुसुम कानन से भ्रमरों के समान। खिले हुए हैं पुष्प जिस कानन अर्थात् वन में उस [कानन] से जैसे भ्रमर [जाते हैं। इस प्रकार]। खिले हुए पुष्पों के वन के साथ साम्य-प्रदर्शन से उस [मार्ग] की कुसुमों के सौकुमार्य के सदृश उत्तमता सूचित की है। और उन [सत्कवियों] के भ्रमरों के साथ सादृश्य से कुसुमों के मकरन्द के समान [सत्कवियों की] तत्वसंग्रह स्वभावता [सूचित की है] ॥२९॥

[२८वीं कारिका]—और वह [मार्ग] कैसा है ? जिसमें जितना भी [संसार में] कितना भी वैचित्र्य अर्थात्—विचित्रता [सौन्दर्य] अर्थात् वक्रोक्तियुक्तत्व, [कवि की]

कविशक्तिसमुल्लसितमेव, न पुनराहार्यं यथाकथञ्चित् प्रयत्नेन निष्पाद्यम्। कीदृशम्, 'सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि' सौकुमार्यमाभिजात्यं, तस्य परिस्पन्दस्तद्विदाह्लादकारित्वलक्षणं रामणीयकं, तेन स्यन्दते रसमयं सम्पद्यते यत् तथोक्तम्। 'यत्र विराजते' शोभातिशयं पुष्णातीति सम्बन्धः।
यथा—

प्रवृत्ततापो दिवसोऽतिमात्र-
मत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी।
उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ
जायापती सानुशयाविवास्ताम् ॥७४॥[1]

अत्र श्लेषच्छायाच्छुरितं कविशक्तिमात्रसमुल्लसितमलङ्करणमनाहार्यं कामपि कमनीयतां पुष्णाति। तथा च 'प्रवृत्ततापः', 'तन्वी' इति वाचकौ सुन्दरस्वभावमात्रसमर्पणपरत्वेन वर्तमानावर्थान्तरप्रतीत्यनुरोधपरत्वेन प्रवृत्तिं न

प्रतिभा से उत्पन्न अलङ्कारादि वह सब, अर्थात् कवि की प्रतिभा से ही उत्पन्न होने वाला ही, न कि बनावटी या प्रयत्नपूर्व जैसे-तैसे सिद्ध किया हुआ [वैचित्र्य]। फिर कैसा, सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होने वाला। सौकुमार्य अर्थात् उत्तमता [आभिजात्य] उसका परिस्पन्द अर्थात् तद्विदाह्लादकारित्व रूप रामणीयक, उससे प्रस्यन्दित अर्थात् रसमयता को प्राप्त होने वाला जो [वैचित्र्य], वह उस प्रकार का [वैचित्र्य] जहाँ विशेष रूप से शोभित होता है अर्थात् शोभातिशय को पुष्ट करता है [वह सुकुमार नामक मार्ग है] यह सम्बन्ध हुआ। जैसे—

[यह रघुवंश के १६वें सर्ग का ४५वाँ श्लोक है। इसमें ग्रीष्म का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं कि आजकल] दिन अत्यन्त सन्तापयुक्त [और बड़ा] तथा रात्रि अत्यन्त ही क्षीण [छोटी] हो गई है। दोनों विरोधी क्रिया [रात्रि के अत्यन्त छोटा और दिन के अत्यन्त बड़ा हो जाने रूप, तथा पति-पत्नी के प्रणय-कलह आदि रूप विपरीत क्रिया] के कारण [विभिन्न] परस्पर विरुद्ध हो जाने पर [पीछे] पश्चात्ताप-युक्त दम्पति के समान हो [दिन सन्ताप-युक्त और रात्रि क्षीण] रहे हैं ॥७४॥

इसमें श्लेष की छाया से युक्त, कवि की शक्तिमात्र से स्फुरित होने वाला अकृत्रिम [उपमा] अलङ्कार कुछ अपूर्व सौन्दर्य को परिपोषित कर रहा है। जैसे कि 'प्रवृत्तताप' और 'तन्वी' यह दोनों वाचक [शब्द] सुन्दर स्वभाव मात्र के समर्पक [वर्णनपरक] रूप से वर्तमान होने से [पति के सन्ताप तथा पत्नी के कृशत्व रूप] अन्य अर्थ की प्रतीति के अनुरोधपरत्वेन प्रवृत्त नहीं होते हैं [अर्थात् पति-पत्नी विषयक दूसरे अर्थ का अभिधा शक्ति से बोध नहीं कराते हैं। इसका यह अभिप्राय

१. रघुवंश १६,४५।

सम्मन्येते । कविव्यक्तकौशलसमुल्लसितस्य पुनः प्रकारान्तरस्य प्रतीतावानुगुण्य-मात्रेण तद्विदाह्लादकारितां प्रतिपद्येते।

किं तत्प्रकारान्तरं नाम । विरोधविभिन्नयोः शब्दयोरर्थान्तर प्रतीतिकारिणोरुपनिबन्धः । तथा चोपमेययोः सहानवस्थानलक्षणो विरोधः स्वभावभेदलक्षणश्च विभिन्नत्वम् । उपमानयोः पुनरीर्ष्याकलह-लक्षणो विरोधः, कोपात् पृथगवस्थानलक्षणं विभिन्नत्वम् । 'अतिमात्रम' 'अत्यर्थम्' चेति विशेषणद्वितयं पक्षद्वयेऽपि सातिशयताप्रतीतकारित्वेनातितरां रमणीयम् । श्लेषच्छायोत्क्लेशसम्पाद्याऽप्ययत्नघटितत्वेनात्र मनोहारिणी ।

यश्च कीदृशः—'अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुरः' । अम्लाना यासावदोषोपहता प्राक्तनाद्यतनसंस्कारप्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः, तत उद्भिन्नौ नूतनांकुरन्यायेन स्वयमेव समुल्लसितौ, न पुनःकदर्थनाकृष्टौ, नवौ प्रत्यग्रौ तद्विदाह्लादकारित्वसामर्थ्ययुक्तौ, शब्दार्थावभिधानाभिधेयौ ताभ्यां बन्धुरो

है कि, यद्यपि 'प्रवृत्ततापः' तथा 'तन्वी' यह दोनों शब्द दिन-रात के सन्ताप तथा कृशता और पति-पत्नी के सन्ताप एवं कृशता-रूप दोनों अर्थों को बोधित कर सकते हैं परन्तु प्रकरणवश ग्रीष्म ऋतु का वर्णन होने से एकार्थ में ही नियन्त्रित हो जाते हैं। इसलिए अर्थान्तर की प्रतीति के साधक अर्थात् वाचक नहीं होते हैं] परन्तु कवि कौशल से समुल्लसित ['विरोध' तथा 'विभिन्न' शब्दों के प्रयोग रूप] दूसरे प्रकार की [दम्पति के प्रणय-कलह आदि रूप अर्थान्तर की] प्रतीति में अनुकूल होने मात्र से [द्वितीयार्थ की प्रतीति करा कर] सहृदयाह्लादकारित्व को प्राप्त होते हैं।

वह प्रकारान्तर क्या है कि—अर्थान्तर की प्रतीति करने में हेतुभूत [अर्थान्तर-प्रतीति की प्रेरणा करने वाले] 'विरोध' और 'विभिन्न' शब्दों का प्रयोग । [उस 'विरोध' तथा 'विभिन्न' शब्दों के प्रयोग के कारण अर्थान्तर प्रतीति में सहायता मिलती है] जैसे कि उपमेयभूत [दिवस तथा क्षणदा रात्रि] में सहानवस्थान रूप विरोध और स्वभावभेद रूप विभिन्नत्व है। [अर्थात् दिन और रात की एक साथ स्थिति सम्भव न होने से उनमें सहानवस्थान रूप विरोध और उन दोनों का स्वभाव भिन्न है यह उनका विभिन्नत्व है] और उपमानों [जाया तथा पति] का ईर्ष्या कलह रूप विरोध तथा क्रोध के कारण अलग-अलग रहने लगना रूप विभिन्नत्व है। 'अतिमात्रं' तथा 'अत्यर्थ' यह दोनों विशेषण दोनों ही पक्षों में सातिशयता की प्रतीति कराने वाले होने से अत्यन्त रमणीय हैं। और श्लेष की छाया तनिक क्लेश साध्य होने पर भी स्वाभाविक रूप से [बिना प्रयत्न के] आ जाने से यहाँ बहुत सुन्दर बन पड़ी है ॥२८॥

[कारिका २५]—और फिर जो [बन्ध] कैसा कि, 'अम्लान प्रतिभा से समुद्भूत अभिनव शब्द तथा अर्थ के कारण सुन्दर'। अम्लान अर्थात् दोषों से अनुपहत, पूर्वजन्म के और इस जन्म के संस्कारों के परिपाक से प्रौढ़, प्रतिभा रूप जो अनिर्वचनीय कोई अपूर्व

हृदयहारी । अन्यच्च कीदृशः—'अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः' । अयत्नेनाक्लेशेन विहितं कृतं यत् स्वल्पं मनाङ्मात्रं मनोहारि हृदयाह्लादकं विभूषणमलङ्करणं यत्र स तथोक्तः । स्वल्पशब्दोऽत्र प्रकरणाद्यपेक्षः न वाक्यमात्रपरः । उदाहरणं यथा—

बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्,
बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतानां
नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥७५॥[1]

कवि-शक्ति, उससे उद्भिन्न अर्थात् नवीन अंकुर के समान स्वयं समुल्लसित न कि जबरदस्ती खींच-तानकर निकाले गये, नवीन [पिष्टपेषण करने वाले बासी नहीं] एकदम अभिनव सहृदयों के आह्लादकारित्व की सामर्थ्य से युक्त जो [अभिधान और अभिधेय] शब्द और अर्थ उन दोनों से [बन्धुर] हृदयहारी । और कैसा कि, बिना प्रयत्न के [स्वाभाविक रूप से] आए हुए परिमित मनोहर अलङ्कारों से विभूषित । बिना प्रयत्न के अर्थात बिना क्लेश के किये हुए जो परिमित स्वल्पमात्र मनोहारी हृदयाह्लादक विभूषण अलङ्कार जिसमें हो वह [सुकुमार-मार्ग कहलाता है] । [प्रकृत स्थल में] 'स्वल्प' शब्द प्रकरण की अपेक्षा से है केवल वाक्य [एक श्लोक] परक नहीं है ।

इसका अभिप्राय यह है कि केवल एक श्लोक में ही नहीं अपितु प्रकरण में ही स्वल्प अलङ्कारों का प्रयोग होना चाहिए । और जो भी अलङ्कार आवें वे बिलकुल स्वाभाविक रूप से बिना किसी विशेष प्रयत्न के होने चाहिएँ । अलङ्कार लाने के प्रयत्नपूर्वक जो अलङ्कार का प्रयोग किया जाता है वह सहृदयहृदयहारी नहीं होता है । यही वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक का मत है । इसलिए 'अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषण' से युक्त बन्ध वाला मार्ग ही 'सुकुमार मार्ग' कहलाता है ।

इसी 'अपृथक्यत्नसाध्य' अलङ्कार की उपयोगिता का प्रतिपादन ध्वन्यालोककार ने इस प्रकार किया है—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥[2]

उदाहरण जैसे—

[पूर्ण रूप से] विकसित न होने के कारण [द्वितीया के] बाल-चन्द्रमा के समान वक्र और अत्यन्त रक्तवर्ण ढाक [के फूल], वसन्त [रूप पति] के साथ समागम करने वाली [नायिकारूपिणी] वनस्थलियों के [वक्षस्थल आदि पर अङ्कित] नखक्षतों के समान सुशोभित हुए ॥७५॥

---

१. कुमारसम्भव ३, २९ । २ ध्वन्यालोक २, १६ ।

अत्र 'बालेन्दुवक्राणि' 'अतिलोहितानि' 'सद्यो वसन्तेन समागतानाम्' इति पदानि सौकुमार्यात् स्वभाववर्णनामात्रपरत्वेनोपात्तान्यपि 'नखक्षतानीव' इत्यलङ्करणस्य मनोहारिणः क्लेशं विना स्वभावोद्भिन्नत्वेन योजनां भजमानानि चमत्कारितामापद्यन्ते ।

यश्चान्यच्च कीदृशः—'भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः' । भावाः पदार्थास्तेषां स्वभावस्तत्वं, तस्य प्राधान्यं मुख्यभावस्तेन न्यक्कृतं तिरस्कृतम् , आहार्यं व्युत्पत्तिविहितं कौशलं नैपुण्यं यत्र स तथोक्तः । तदयमभिप्रायः—पदार्थ परमार्थमहिमैव कविशक्तिसमुन्मीलितः, तथाविधो यत्र विजृम्भते येन विविध-मपि व्युत्पत्तिविलसितं काव्यान्तरगतं तिरस्कारास्पदं सम्पद्यते । अत्रोदाहरणं रघुवंशे मृगयावर्णनपरं प्रकरणम् । यथा—

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावै-
र्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात् ।

यहाँ [इस उदाहरण में] 'बालेन्दुवक्राणि', अतिलोहितानि' और 'सद्यो वसन्तेन समागतानां' ये पद केवल स्वभावमात्र के वर्णनपरक रूप में गृहीत होने पर भी 'नखक्षतानीव' इस [पद से द्योत्य] सुन्दर और अनायास [बिना क्लेश के स्वभावतः] व्यक्त होने वाले [उपमा रूप] अलङ्कार के साथ मिलकर [अत्यन्त] चमत्कार-युक्त हो रहे हैं ॥२५॥

[कारिका २६]—और जो [बन्ध] कैसा कि, 'भाव के स्वभाव [वर्णन] के प्राधान्य के कारण [प्रयत्नसाध्य] 'आहार्य' कौशल को तिरस्कार [उपेक्षा] करने वाला' है । भाव अर्थात् पदार्थ, उनका स्वभाव अर्थात् तत्त्व, उसका प्राधान्य अर्थात् मुख्यता, उससे तिरस्कृत कर दिया है आहार्य अर्थात् व्युत्पत्ति से उपार्जित, कौशल अर्थात् निपुणता [कृत्रिम या बनावटी चमत्कार] को जिसमें उस प्रकार का [बन्ध] । इसका यह अभिप्राय हुआ कि जहाँ कवि की [प्रतिभा रूप] शक्ति से उन्मीलित पदार्थ के स्वभाव [स्वाभाविक सौन्दर्य] का चमत्कार ही उस प्रकार का [अलौकिक-सा] प्रतीत होता है कि जिसके सामने अन्य काव्यों का अनेक प्रकार का व्युत्पत्तिजनित [कृत्रिम] सौन्दर्य हेय [तिरस्कार के योग्य] प्रतीत होने लगता है । इसका उदाहरण रघुवंश [के नवम सर्ग] में मृगया वर्णनपरक प्रकरण है । [उस प्रकरण में से एक श्लोक इस प्रकार यहाँ दिया जा सकता है] जैसे—

दूध पीने वाले छोटे-छोटे मृगशावकों के द्वारा जिस [झुण्ड] में, [भागती हुई] हरिणियों के चलने में बाधा डाली जा रही है, और जिसके आगे गर्वयुक्त कृष्णसार मृग चल रहा है [आधे खाए हुए] कुशों को मुख में दबाए हुए इस प्रकार

आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां
यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥७६॥[1]

यथा च कुमारसम्भवे—

द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवव्रुः ॥७७॥[2]

इतः परं प्राणिधर्मवर्णनम् यथा—

शृंगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं
मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥७८॥[3]

अन्यच्च कीदृशः—'रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दरः'। रसाः शृङ्गारादयः। तदादिग्रहणेन रत्यादयोऽपि गृह्यन्ते। तेषां परमार्थः परमरहस्यं,

---

का मृगों का झुण्ड उस राजा को सामने भागता हुआ दिखलाई दिया ॥ ७६ ॥

और जैसे [महाकवि कालिदास के ही] कुमारसम्भव में [तृतीय सर्ग के ३५वें श्लोक में आए हुए]—

[वसन्त के आने पर वन में प्राणियों के] जोड़ों ने अपने [रति विषयक] भावों को क्रिया से प्रकाशित किया।

यहाँ से आगे [४२वें श्लोक तक] प्राणियों के धर्म का वर्णन। [उसमें से उदाहरणार्थ एक श्लोक को यहाँ उद्धृत कर रहे हैं] जैसे—

यह पूरा श्लोक इस प्रकार है—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृंङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमण्डूयत कृष्णसारः ॥[4]

[वसन्त के आगमन होने पर] अपनी प्रिया का अनुगमन करने वाला भौंरा, कुसुम रूप एक ही पात्र में [उसके साथ] मधु का पान करने लगा और—

कृष्णसार-मृग, स्पर्श [के सुख] से आँखें बन्द की हुई मृगी को अपने सींगों से खुजलाने लगा ॥७८॥

रघुवंश तथा कुमारसम्भव के इन प्रकरणों में और उनमें से उद्धृत इन दोनों श्लोकों में मृगों का बड़ा स्वाभाविक वर्णन हुआ है। उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं आने पाई है। इसलिए इस स्वभावोक्ति में अत्यन्त अलौकिक चमत्कार प्रतीत होता है। स्वभावोक्तिवादी पक्ष इसी को स्वभावोक्ति का चमत्कार कहता है। और उसके लिए वह आहार्य कौशल या वक्रोक्ति को अनुपयुक्त समझता है। कुन्तक इस स्वभावोक्ति को भी, वर्णन का एक अलौकिक वक्रमार्ग होने से 'वक्रोक्ति' ही कहते हैं और उसे सुकमार-मार्ग का नाम देते हैं।

और किस प्रकार का [बन्ध सुकुमार मार्ग में अपेक्षित है कि]-'रसादि के तत्त्व को

---

१. रघुवंश ६, ५। २. कुमारसम्भव ३. ३५। ३—४. कुमारसम्भव ३, ३६।

तज्जानन्तीति तज्ज्ञाः, तद्विदः, तेषां मनःसंवादो हृदयसंवेदनं स्वानुभवगोचरतया प्रतिभासः, तेन सुन्दरः सुकुमारः, सहृदयहृदयाह्लादकारी वाक्योपनिबन्ध इत्यर्थः। अत्रोदाहरणानि रघौ रावणं निहत्य पुष्पकेणागच्छतो रामस्य सीतायास्तद्विरहविधुरहृदयेन मयास्मिन्नस्मिन् समुद्देशे किमप्येवंभूतं वैशसमनुभूतमिति वर्णयतः सर्वाण्येव वाक्यानि। यथा—

पूर्वानुभूतं स्मरता च रात्रौ
कम्पोत्तरं भीरु तवोपगूढम्।

जानने वालों के मन के अनुरूप होने से सुन्दर। रस अर्थात् शृङ्गार आदि। रसादि पद से रत्यादि [स्थायी भाव तथा रसाभास, भाव, भावाभास आदि] भी गृहीत होते हैं। [अनौचित्य से वर्णन किए गए रसों को 'रसाभास' और देवादि विषयक रति को 'भाव' कहते हैं। ऊपर रघुवंश तथा कुमारसम्भव के उदाहरणों में मृगों की शृङ्गार-चेष्टाओं का वर्णन है वह 'रस' नहीं अपितु रसाभास' माना गया है। यहाँ ग्रन्थकार ने उसे सुकुमार मार्ग के उदाहरण में दिया है। इसलिए उन्हें 'रस' शब्द की व्याख्या करने की आवश्यकता पड़ी। 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अन्य आचार्यों ने भी 'रस' शब्द से स्थायीभाव, रसाभास, भाव और भावाभास आदि का ग्रहण किया है। यहाँ भी कुन्तक उन सबके ग्रहण के लिए यह लिख रहे हैं कि तदादि ग्रहण से रत्यादि भी ग्रहण किए जाते हैं]। उनका जो परमार्थ अर्थात् परम रहस्य उसको जो समझते हैं वे 'तज्ज्ञ' अर्थात् रसादिपरमार्थज्ञ हुए, उनका मनःसंवाद अर्थात् हृदयसंवेदन अर्थात् स्वानुभवगोचरतया साक्षात्कार, उससे सुन्दर अर्थात् सुकुमार अर्थात् सहृदय-हृदयाह्लादकारी वाक्य की रचना। इस [रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दरः] के उदाहरण रघुवंश में रावण को मारकर पुष्पक [विमान] से लौटते हुए राम के, सीता से 'तुम्हारे [सीता के] विरह से दुःखित हृदय, मैंने अमुक प्रदेश में कुछ इस प्रकार क दुःख अनुभव किया था' इसका वर्णन करते हुए [रामचन्द्र के] सब ही वाक्य है। [उनमें से उदाहरणार्थ एक श्लोक निम्न रूप से उद्धृत करते हैं] जैसे—

हे भीरु [डरपोक स्वभाव वाली सीते] रात्रि में [वर्षा ऋतु में रात को गर्जन करते हुए मेघों की भयानक गड़गड़ाहट को सुनकर भय से काँपती हुई जब तुम मुझ से चिपट जाती थीं तुम्हारे उस] पूर्वानुभूत कम्पप्रधान आलिङ्गन को स्मरण करते हुए मैंने [तुम्हारे वियोग-काल में वर्षा ऋतु की रात्रियों में उसी प्रकार के घन गर्जन के होने पर इस पर्वत की] गुफाओं में [भी] भर जाने वाले

गुहाविसार्यतिवाहितानि
मया कथञ्चिद् घनगर्जितानि ॥७६॥[1]

अत्र राशिद्वयकरणस्यायमभिप्रायो यद् विभावादिरूपेण रसाङ्गभूताः शकुनिरुत-तरु-सलिल-कुसुमसमयप्रभृतयः पदार्थाः सातिशयस्वभाववर्णनप्राधान्येनैव रसाङ्गतां प्रतिपद्यन्ते। तद्व्यतिरिक्ताः सुर-गन्धर्वप्रभृतयः सोत्कर्षचेतनायोगिनः शृङ्गारादिरसनिर्भरतया वर्ण्यमानाः सरसहृदयाह्लादकारितामायान्तीति कविभिरभ्युपगतम्। तथाविधमेव लक्ष्ये दृश्यते।

अन्यच्च कीदृशः—'अविभावितसंस्थानरामणीयकरञ्जकः'। अविभावितमनालोचितं संस्थानं संस्थितिर्यत्र तेन रामणीयकेन रमणीयत्वेन रञ्जकः सहृदयहृदयाह्लादकः। तेनायमर्थः—यदि तथाविधं कविकौशलमत्र सम्भवति तद् व्यपदेष्टुमियत्तया न कथञ्चिदपि पार्यते, केवलं सर्वातिशायितया चेतसि परिस्फुरति।

यश्च कीदृशः—'विधिवैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः'। विधि-

मेघ के गर्जनों को किसी प्रकार [महता कष्टेन] सहन किया ॥७६॥

यहाँ ['भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृतहार्यकौशलः', तथा 'रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दरः' इस प्रकार के] दो विभाग करने का यह अभिप्राय है कि विभाव आदि रूप से रस के अङ्गभूत पक्षियों के शब्द, वृक्ष, जल, और पुष्प-समय [वसन्त] आदि पदार्थ अतिशय युक्त स्वभाव-वर्णन की प्रधानता [होने] से ही रस [की अङ्गता को प्राप्त] के अङ्ग होते हैं। [इसी के बोधनार्थ पहिला विशेषण और उदाहरण रखा है] और उनसे भिन्न विशिष्ट चेतना से युक्त, देव गन्धर्व आदि शृङ्गारादि रस से परिपूर्ण रूप से वर्णित होने पर सहृदयों के हृदयाह्लादकारी होते हैं, यह कवियों ने माना हुआ है। उसी प्रकार उदाहरणों [लक्ष्यभूत काव्यादि] में दिखलाई देता है ॥२६॥

[कारिका २६]—और कैसा [बन्ध सुकुमार मार्ग के अनुरूप होता है कि] अविभावित जो संस्थान की रमणीयता उससे मनोहर। अविभावित अर्थात् अनालोचित [अर्थात् विचार या प्रयत्नपूर्वक नहीं अपितु स्वाभाविक रूप से अनायास विरचित, पदादि का जो] संस्थान अर्थात् स्थिति जिसमें हो उस, रामणीयक अर्थात् सौन्दर्य से, रञ्जक अर्थात् सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाला। इसलिए यह अर्थ हुआ कि—यदि इस प्रकार का कवि का कौशल [यहाँ] रचना में होता है तो उसको 'इतना' [सौन्दर्य है इस] रूप से सीमित करके कैसे भी नहीं कहा जा सकता है। वह केवल सर्वातिशायी रूप से [सहृदयों के] चित्त में प्रतीत होता है।

और जो कैसा कि, 'विधाता की निपुणता से निर्मित जो [सर्गादि] रचना का

---

१. रघुवंश १३, २८।

विधाता तस्य वैदग्ध्यं कौशलं, तेन निष्पन्नः परिसमाप्तो योऽसौ निर्माणातिशयः सुन्दरः सर्गोल्लेखो रमणीयरमणीलावण्यादिः, स उपमा निदर्शनं यस्य स तथोक्तः। तेन विधातुरिव कवेः कौशलं यत्र विवेक्तुम शक्यम्। यथा—

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य
विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण।
कारागृहे निर्जितवासवेन
दशाननेनोषितमाप्रसादात् ॥८०॥[1]

अत्र व्यपदेशप्रकारान्तरनिरपेक्षः कविशक्तिपरिणामः परं परिपाक-मधिरूढः।

अतिशय उसके सदृश। 'विधि' अर्थात् विधाता [ब्रह्मा] उसका वैदग्ध्य अर्थात् कौशल [चतुरता], उससे निष्पन्न अर्थात् पूर्ण हुआ जो रचनातिशय अर्थात् सुन्दर सृष्टि रचना रूप रमणीय रमणी-लावण्य आदि वह [ही] उपमा अर्थात् उदाहरण है जिसका, वह उस प्रकार का [विधिवैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः]। इसलिए जहाँ [जिस बन्ध में] विधाता के कौशल के समान कवि का कौशल अवर्णनीय हो [वह बन्ध सुकुमार्ग-मार्ग कहलाता है] जैसे—

[कार्तवीर्य के द्वारा] प्रत्यञ्चा से बाँध दिए जाने के कारण जिस [रावण] की भुजाएँ व्यर्थ [निश्चल] हो गई हैं, और जिसके [दसों] मुखों की परम्परा हाँफ रही है [एसी दयनीय अवस्था में], इन्द्र को भी जीतने वाले लंकेश्वर [रावण को भी] जिस [कार्तवीर्य] के कारागृह में उसकी कृपा होने पर्यन्त पड़ा रहना पड़ा। [अर्थात् उस कार्तवीर्य की कृपा से ही कारागार से छूट सका अपनी शक्ति से नहीं] ॥८०॥

यहाँ [इस श्लोक में] के अन्य प्रकार के विशेषण [व्यपदेश] से निरपेक्ष, कवि का शक्ति [प्रतिभा] का परिणाम चरम परिपाक को प्राप्त हो गया है।

[यह श्लोक रघुवंश के छठे सर्ग में इन्दुमती के स्वयम्वर के वर्णन में से कार्तवीर्य के वंशधर प्रतीप नामक राजा के परिचय के प्रसङ्ग में सुनन्दा ने कहा है। इसमें उस प्रतीप नामक राजा के पूर्वज कार्तवीर्य के प्रभाव का वर्णन किया है। जिसने इन्द्र को भी जीतने वाले रावण को पकड़कर अपने कारागृह में डाल दिया था। उस रावण की दुर्दशा को 'ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन' और 'विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण' इन दोनों विशेषणों के द्वारा कवि ने जिस सुन्दरता से व्यक्त किया वह शायद किसी अन्य प्रकार से उतनी सुन्दरता से अभिव्यक्त नहीं हो सकती थी। इसलिए ग्रन्थकार ने 'व्यपदेशप्रकारान्तरनिरपेक्षः' लिखकर कवि की प्रतिभा के परिणाम को परम परिपाक कोटि पर अधिरूढ़ कहा है ॥२७॥

---

१. रघुवंश ६, ४०।

एतस्मिन् 'कुलके'-प्रथमश्लोके प्राधान्येन शब्दालङ्करणयोः सौन्दर्यं प्रतिपादितम्। द्वितीये वर्णनीयस्य वस्तुनः सौकुमार्यम्। तृतीये प्रकारान्तर-निरपेक्षस्य सन्निवेशस्य सौकुमार्यम्। चतुर्थे वैचित्र्यमपि सौकुमार्याविसंवादि विधेयमित्युक्तम्। पञ्चमो विषयविषयिसौकुमार्यप्रतिपादनपरः ॥२५-२६॥

एवं सुकुमाराभिधानस्य मार्गस्य लक्षणं विधाय तस्यैव गुणान् लक्षयति—

असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम्।
माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः ॥३०॥

असमस्तानि समासवर्जितानि मनोहारीणि हृदयाह्लादकानि श्रुति रम्यत्वेनार्थरमणीयत्वेन च यानि पदानि सुप्तिङन्तानि, तेषां विन्यासः सन्निवेश-वैचित्र्यं, जीवितं सर्वस्वं यस्य तत्तथोक्तम्। माधुर्यं नाम सुकुमारलक्षणस्य मार्गस्य प्रथमः प्रधानभूतो गुणः। असमस्तशब्दोऽत्र प्राचुर्यार्थः, न स्वभाव-नियमार्थः। उदाहरणं यथा—

[सुकुमार मार्ग के लक्षण परक २५ से २६ कारिका तक के पांच श्लोक वाले] इस 'कुलक' [चार श्लोकों से अधिक का एक साथ अन्वय होने पर उस श्लोक-समुदाय को 'कुलक' कहते हैं] में से प्रथम श्लोक में प्रधान रूप से शब्द और अलङ्कारों के सौन्दर्य का प्रतिपादन किया है। दूसरे [श्लोक] में वर्णनीय वस्तु के सौकुमार्य का, तीसरे में अन्य भेदों से निरपेक्ष सन्निवेश के सौकुमार्य का [प्रतिपादन किया है] चतुर्थ [श्लोक] में सौकुमार्य का अविरोधि वैचित्र्य भी [काव्य में प्रयुक्त] करना चाहिए यह कहा है। और पाँचवाँ [श्लोक] विषय तथा विषयी [लक्ष्य और लक्षण] के सौकुमार्य का प्रतिपादन कर रहा है ॥२५-२६॥

इस प्रकार सुकुमार नामक मार्ग का लक्षण करके उसी [मार्ग] के गुणों का निरूपण [लक्षण] करते हैं—

समास-रहित मनोहर पदों का विन्यास जिसका प्राण है इस प्रकार का 'माधुर्य' [गुण] सुकुमार-मार्ग का सबसे पहिला गुण है ॥३०॥

असमस्त अर्थात् समास-रहित, मनोहर अर्थात् सुनने में रमणीय और अर्थतः सुन्दर होने से हृदयाह्लादक, जो सुबन्त तिङन्त रूप पद, उनका विन्यास अर्थात् रचना-वैचित्र्य जिसका प्राणभूत है उस प्रकार का [असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम्] 'माधुर्य' नाम का [गुण] सुकुमार रूप मार्ग का प्रथम अर्थात् प्रधानभूत गुण है। 'असमस्त' पद यहाँ [समासविहीन पदों के] प्राचुर्य के [बोधन] के लिए [रखा गया] है। [समास के अभाव के नियम] अपरिहार्यत्व [प्रतिपादन करने] के लिए नहीं। [अर्थात् समास का नितान्त अभाव आवश्यक नहीं है। स्वल्प मात्रा में छोटे समास भी माधुर्य गुण में प्रयुक्त हो सकते हैं। उस का उदाहरण आगे देते है] जैसे—

क्रीडारसेन रहसि स्मितपूर्वमिन्दो-
र्लेखां विकृष्य विनिबध्य च मूर्ध्नि गौर्या ।
किं शोभिताहमनयेति शशाङ्कमौलेः
पृष्टस्य पातु परिचुम्बनमुत्तरं वः ॥८१॥

अत्र पदानामसमस्तत्वं शब्दार्थरमणीयता विन्यासवैचित्र्यं च त्रितय-मपि चकास्ति ॥३०॥

तदेवं माधुर्यमभिधाय प्रसादमभिधत्ते—

अक्लेशव्यञ्जिताकूतं झगित्यर्थसमर्पणम् ।
रसवक्रोक्तिविषयं यत् प्रसादः स कथ्यते ॥३१॥

झगिति प्रथमतरमेवार्थसमर्पणं वस्तुप्रतिपादनम् । कीदृशम्, 'अक्लेश-व्यञ्जिताकूतम्', अकदर्थनाप्रकटिताभिप्रायम् । किंविषयम्, 'रसवक्रोक्तिविषयम्' । रसाः शृङ्गारादयः, वक्रोक्तिः सकलालङ्कारसामान्यं, विषयो गोचरो यस्य तत्-

---

एकान्त में रतिक्रीड़ा के रस से मुस्कराते हुए पार्वती के द्वारा चन्द्रमा की रेखा को [शिव के मस्तक पर से] खींचकर और [अपने] सिर पर लगाकर, क्या मैं इस [चन्द्रमा की रेखा] से शोभित होती हूँ इस प्रकार पूछे गये [शशाङ्कमौलि] शिव का [पार्वती को अथवा उसके व्याज से चन्द्रलेखा को प्रदान किया हुआ] परिचुम्बन रूप उत्तर तुम्हारी रक्षा करे ॥८१॥

यहाँ [इस उदाहरण में] पदों का समासरहित होना, शब्द और अर्थ की रमणीयता, तथा रचना की विचित्रता यह तीनों ही प्रतीत रहे हैं। [अतएव यह श्लोक माधुर्य गुण का उत्तम उदाहरण है] ॥३०॥

इस प्रकार माधुर्य [गुण] को कहकर [आगे] प्रसाद [गुण] को कहते हैं—

रस तथा वक्रोक्ति के विषय में बिना किसी क्लेश के [अनायास सरलतापूर्वक] अभिप्राय को व्यक्त कर देने वाला, तुरन्त अर्थ का प्रतिपादन रूप जो [गुण है] वह 'प्रसाद' [नाम से] कहा जाता है ॥३१॥

झगिति, [सुनने के साथ] प्रथमतर ही अर्थसमर्पण अर्थात् वस्तु का प्रतिपादन। कैसा, 'बिना क्लेश के अभिप्राय को प्रकट करने वाला' अर्थात् बिना खींचतान के अर्थ को प्रकट करने वाला। किस विषय में, 'रस और वक्रोक्ति विषय में'। रस [शब्द से] शृङ्गार आदि और वक्रोक्ति अर्थात् सामान्य रूप से समस्त अलङ्कार जिसके विषय अर्थात् गोचर है, वह उस प्रकार का [रस-वक्रोक्ति-विषय]। वह ही

तथोक्तम् । स एव प्रसादाख्यो गुणो कथ्यते भण्यते । अत्र पदानामसमस्तत्वं प्रसिद्धाभिधानत्वं अव्यवहितसम्बन्धत्वं समाससद्भावेऽपि गमकसमासयुक्तता च परमार्थः । 'आकूत' शब्दस्तात्पर्यविच्छित्तौ च वर्तते ।

उदाहरणं यथा—

हिमव्यपायाद्विशदाधराणा-
मापाण्डुरीभूतमुखच्छवीनाम् ।
स्वेदोदगमः किम्पुरुषाङ्गनानां
चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु ॥८२॥

अत्रासमस्तत्वादि सामग्री विद्यते । यदपि विविधपत्रविशेषकवैचित्र्यविहितं किमपि वदनसौन्दर्यं मुक्ताकारस्वेदलवोपबृंहितं तदपि सुव्यक्तमेव ।

यथा वा—

'प्रसाद' नामक गुण कहलाता है । यहाँ [प्रसाद-गुण में] (१) पदों का समासहीन होना, (२) प्रसिद्ध अर्थ का प्रतिपादक होना, (३) [अर्थ के साथ] बिना व्यवधान [लक्षणा आदि] के [साक्षात्] सम्बन्ध होना और (४) समास होने पर भी स्पष्टार्थक समासयुक्तता होना यह [प्रसाद-गुण का] वास्तविक रहस्य है । [कारिका में] 'आकूत' शब्द तात्पर्य के सौन्दर्य [प्रतिपादन] में [प्रयुक्त हुआ] है । [उस प्रसाद-गुण का] उदाहरण जैसे [कुमारसम्भव ३, ३३]—

[वसन्त ऋतु का आगमन होने पर] हिम [जाड़े अथवा बर्फ़] के हट जाने से स्वच्छ अधर वाली [जाड़े के दिनों में हाथ, पैर, होंठ आदि फट जाते हैं । इसलिए हिम-व्यपाय में विशदाधरत्व का कथन किया है] और गौरत्व को प्राप्त मुख कान्ति वाली किम्पुरुषों की स्त्रियों के [कपोलों पर बने हुए] पत्र-विशेषक [रूप अलङ्कारों] में पसीने के उद्गम ने अपना स्थान बना लिया । [अर्थात् गालों पर बने पत्रविशेषकों पर पसीना आना आरम्भ हो गया] ॥८२॥

यहाँ [इस उदाहरण में भी] असमस्तत्व आदि सामग्री विद्यमान् है । और [तात्पर्य विच्छित्ति का द्योतक] जो नाना प्रकार के पत्रविशेषकों के वैचित्र्य से विहित मुख का अपूर्व सौन्दर्य है वह मोतियों के आकार वाले पसीने की बूंदों से और भी बढ़ गया है वह भी स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रहा है । [इसलिए यह प्रसाद-गुण का उत्तम उदाहरण है] ।

अथवा जैसे [उसी प्रसाद-गुण का दूसरा उदाहरण रघुवंश के छठे सर्ग में इन्दुमती के स्वयंवर के अवसर पर हेमाङ्गद नामक कलिङ्ग देश के राजा के वर्णन-प्रसङ्ग में सुनन्दा का कहा हुआ निम्नलिखित श्लोक]—

अनेन सार्धं विहराम्बुराशे-
स्तीरेषुता ड़ीवनमर्मरेषु ।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पै
रपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥८३॥[1]

अलङ्कारव्यक्तिर्यथा—

बालेन्दुवक्राणि । इति ॥८४॥

एवं प्रसादमभिधाय लावण्यं लक्षयति—

वर्णविन्यासविच्छित्तिपदसन्धानसम्पदा ।
स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं लावण्यमभिधीयते ॥३२॥

[सुमात्रा, जावा आदि] अन्य द्वीपों से लवङ्ग के पुष्पों को उड़ाकर लाने वाले वायु के द्वारा जिसके [सुरतश्रम-जन्य] पसीने की बूँदें सुखाई जा रही हों इस प्रकार की होकर इस [कलिङ्ग राज हेमाङ्गद] के साथ, ताड़ के वनों में मर्मर शब्द से युक्त समुद्र के तटों पर विहार करो ॥ ८३ ॥

इसमें प्रसाद गुण की सम्पूर्ण सामग्री विद्यमान है। इसलिए यह 'प्रसाद' गुण का उत्तम उदाहरण है।

प्रसाद गुण के लक्षण में 'रसवक्रोक्तिविषयं' यह पद दिया है। इसका अभिप्राय यह है रस तथा वक्रोक्ति अर्थात् अलङ्कार सामान्य दोनों ही के विषय में उस प्रसाद का समर्पकत्व होना चाहिए। ऊपर जो दो उदाहरण दिये हैं वह रस के समर्पक हैं। इसलिए वक्रोक्ति अर्थात् अलङ्कार सामान्य के लिए अगला उदाहरण देते हैं। यह श्लोक उदाहरण संख्या ७५ पर पहिले भी दिया जा चुका है।

अलङ्कार [वक्रोक्ति रूप अलङ्कार सामान्य] की अभिव्यक्ति [का उदाहरण] जैसे—

नवीन चन्द्रमा के समान वक्र [इत्यादि उदाहरण संख्या ७५ पर उद्धृत श्लोक] ॥८४॥

इसका व्याख्या वहीं पर देख लेनी चाहिए ॥३१॥

इस प्रकार प्रसाद [गुण] का कथन कर [आगे] लावण्य का 'लक्षण' करते हैं—

वर्णविन्यास के सौन्दर्य से युक्त पदों की योजना की थोड़ी-सी सम्पत्ति से [उत्पन्न] रचना का सौष्ठव लावण्य [नाम से] कहा जाता है ॥३२॥

---

१. रघुवंश ६, ५३।

'बन्धो' वाक्यविन्यासस्तस्य 'सौन्दर्यं' रामणीयकं 'लावण्यमभिधीयते' लावण्यमित्युच्यते । कीदृशम्—वर्णानामक्षराणां विन्यासो विचित्रं न्यसनं तस्य विच्छित्तिः शोभा वैदग्ध्यभङ्गी, तया लक्षितं, पदानां सुप्तिङन्तानां सन्धानं संयोजनं, तस्य सम्पत्, सापि शोभैव, तया लक्षितम्। कीदृश्या, उभयरूपयापि स्वल्पया मनाङ्मात्रया नातिनिर्बन्धनिर्मितया । तदयमत्रार्थः—शब्दार्थसौकुमार्यसुभगः सन्निवेशमहिमा लावण्याख्यो गुणः कथ्यते । यथा—

स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं
विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु ।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः
केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम् ॥८५॥

अत्र सन्निवेशसौन्दर्यमहिमा सहृदयसंवेद्यो न व्यपदेष्टुं पार्यते ।

बन्ध [का अर्थ] वाक्य-रचना [है]। उसका सौन्दर्य अर्थात् रमणीयत्व, लावण्य कहा जाता है अर्थात् लावण्य पद से व्यवहृत होता है । कैसा [बन्धसौन्दर्य] वर्णों अर्थात् अक्षरों का जो विन्यास विचित्र रूप से सन्निवेश, उसका जो शोभा अर्थात् सुन्दर रचना-शैली, उससे युक्त सुबन्त तिङन्त पदों का सन्धान अर्थात् योजना, उसकी सम्पत् [ऊपर विच्छित्ति शब्द का अर्थ शोभा किया है। यहाँ सम्पत् शब्द का अर्थ भी शोभा ही है यह कहते हैं] वह [सम्पत्] भी शोभा ही है । उससे युक्त [लक्षित]। किस प्रकार की [शोभा] से [युक्त], दोनों ही प्रकार की [अर्थात् अक्षर-रचना तथा पद-रचना से जन्य वर्णविन्यासविच्छित्ति तथा पदसन्धानसम्पत्ति से जन्य] थोड़ी तनिक-सी अर्थात् अत्यन्त आग्रह से निर्मित न की हुई [शोभा से युक्त बन्ध का सौन्दर्य लावण्य कहलाता है]। इसका यह अभिप्राय हुआ कि—शब्द और अर्थ के सौकुमार्य से सुन्दर रचना का सौष्ठव लावण्य नामक गुण कहलाता है । जैसे [रघुवंश के सोलहवें सर्ग में कुश के कुमद्वती के साथ सङ्गम के वर्णन के प्रसङ्ग में कहा हुआ कुमुद्वती का वर्णन-परक ५०वां यह श्लोक]—

स्नान के कारण गीले, खुले हुए और धूप की गन्ध देने के बाद सायंकालीन [अलङ्करण के योग्य] मल्लिका पुष्पों के विन्यास से युक्त स्त्रियों के केशों में, वसन्त के बीत जाने के कारण मन्दवीर्य कामदेव ने बल को प्राप्त किया । [अर्थात् उन केशों से ही काम का उद्दीपन हुआ ।] ॥८५॥

यहाँ [इस उदाहरण में] रचना के सौन्दर्य का प्रभाव सहृदय संवेद्य [ही] है उसका वर्णन करना सम्भव नहीं है ।

यथा वा—

चकार वाणैरसुराङ्गनानां
गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥८९॥[1]

अत्रापि वर्णविन्यासविच्छित्तिः पदसन्धानसम्पच्च सन्निवेशसौन्दर्य-निबन्धनस्फुटावभासैव ॥३२॥

एवं लावण्यमभिधाय आभिजात्यमभिधत्ते—

श्रुतिपेशलताशालि सुस्पर्शमिव चेतसा ।
स्वभावमसृणच्छायमाभिजात्यं प्रचक्षते ॥३३॥

अथवा जैसे—

जिस [ककुत्स्थ राजा] ने अपने बाणों से असुरों की स्त्रियों के कपोलस्थलों को पत्रलेखा [रूप अलङ्करण] से विहीन कर दिया ॥८९॥

यहाँ भी वर्णों के विन्यास का सौन्दर्य और पद-योजना का सौष्ठव, रचना के सौन्दर्य के कारण स्पष्ट रूप से ही प्रतीत हो रहा है ।

यह श्लोक भी रघुवंश के छठे सर्ग से इन्दुमती के स्वयंवर-वर्णन के प्रसङ्ग से लिया गया है । उसमें सुनन्दा इक्ष्वाकुवंश के ककुत्स्थ नामक राजा का वर्णन कर रही है । इस राजा के विषय में पुराणों में इस प्रकार की कथा पाई जाती है कि वह राजा साक्षात् विष्णु का अंशावतार था । देवासुर-संग्राम में देवों की ओर से वह लड़ा था । उस समय इन्द्र को वृषभ बनाकर उसके ऊपर चढ़कर उसने युद्ध किया और समस्त असुरों का विनाश कर दिया । महेन्द्र के ककुद [साँड की पीठ पर उठे हुए भाग को ककुद कहते हैं] पर बैठकर उसने असुरों का विनाश किया था इसलिए ककुत् पर स्थित होने से उसका 'ककुत्स्थ' यह नाम पड़ा था । इसी घटना का निर्देश करते हुए सुनन्दा ने यहाँ उसका परिचय कराया है । यहाँ श्लोक के केवल दो चरण उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए गए हैं । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥३२॥[2]

इस प्रकार [सुकुमार मार्ग के] लावण्य [गुण] को कहकर [चौथे] आभिजात्य [नामक गुण] को कहते हैं—

सुनने में मृदुता-युक्त और सुखद स्पर्श के समान चित्त को छूता हुआ-सा, स्वभाव से कोमल छाया वाला, [बन्ध का सौन्दर्य] 'आभिजात्य' [नामक गुण] कहा जाता है ॥३३॥

१-२. रघुवंश ६, ७२ ।३२।

एवंविधं वस्तु आभिजात्यं प्रचक्षते, अभिजात्याभिधानं गुणं वर्णयन्ति । श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं तत्र पेशलता रामणीयकं तेन शालते श्लाघते यत् तथोक्तम् । सुस्पर्शमिव चेतसा मनसा सुस्पर्शमिव । सुखेन स्पृश्यत इवेत्यतिशयोक्तिरियम् । यस्मादुभयमपि स्पर्शयोग्यत्वे सति सौकुमार्यात् किमपि चेतसि स्पर्शसुखमर्पयतीव । यतः स्वभावमसृणच्छायं अहार्यश्लक्ष्णकान्ति यत्, तदाभिजात्यं कथयन्तीत्यर्थः ।

यथा—

इस प्रकार की वस्तु को 'आभिजात्य' [नामक गुण] कहते हैं । श्रुति अर्थात् श्रवणेन्द्रिय [कान] उसमें जो पेशलता अर्थात् रमणीयता उससे जो श्लाघित अर्थात् प्रशंसित [शोभित] होता है, वह उस प्रकार का [श्रुतिपेशलताशालि हुआ] । 'चित्त से सुस्पर्श के समान' अर्थात् मन से सुन्दर सुखद स्पर्श के समान [छूता हुआ-सा] । सुख से स्पर्श किया जाता है [छूता है] यह [कथन] अतिशयोक्ति है । [वास्तव में वह आभिजात्य गुण कोई मूर्त्त भौतिक पदार्थ नहीं है जो चित्त का स्पर्श कर सके । और न चित्त ही स्पर्श के योग्य है । परन्तु जैसे स्पर्श योग्य कोई अत्यन्त मृदु पदार्थ अपने मृदु-स्पर्श से चित्त में आनन्द को उत्पन्न करता है । इसी प्रकार यह आभिजात्य गुण भी चित्त में अनिर्वचनीय आनन्द को उत्पन्न करता है इसलिए उसको भी अतिशयोक्ति से 'सुस्पर्शमिव चेतसा' कह दिया है ।] क्योंकि [स्पर्श करने योग्य मृदु वस्तु तथा स्पर्श करने वाली त्वगिन्द्रिय] दोनों स्पर्श के योग्य होने पर सौकुमार्य [के अतिशय के कारण] से चित्त में स्पर्श सुख-सा देती है । [इसी प्रकार यहाँ भी होने से 'सुस्पर्शमिव चेतसा' कह दिया है] क्योंकि जो स्वभाव से कोमल कान्ति अर्थात् [अहार्य कृत्रिम रूप से न लाई हुई] स्वाभाविक मृदु कान्ति वाला [गुण] है उसको 'आभिजात्य' कहते हैं । [यहाँ 'स्वभावमसृणच्छायं' का अर्थ 'अहार्यश्लक्ष्णकान्ति' किया है । 'अहार्य' का अर्थ अकृत्रिम या स्वाभाविक है । परन्तु उसे 'आहार्य' समझने की भूल नहीं करनी चाहिए । 'आहार्य' वस्तु तो स्वाभाविक नहीं होती । अतः अहार्य पाठ उचित है ।

उस आभिजात्य गुण का उदाहरण मेघदूत से उद्धृत करते हैं । यहाँ उदाहरण रूप में आधा श्लोक ही उद्धृत किया है । मेघदूत का परा श्लोक इस

ज्योतिलखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रीत्या कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ॥८७॥

अत्र श्रुतिपेशलतादि स्वभावमसृणच्छायत्वं किमपि सहृदयसंवेद्यं परिस्फुरति ।

ननु च लावण्यमाभिजात्यञ्च लोकोत्तरतरुणीरूपलक्षणवस्तुधर्मतया यत् प्रसिद्धं तत्कथं काव्यस्य भवितुमर्हतीति चेत्—

तन्न । यस्मादनेन न्यायेन पूर्वप्रसिद्धयोरपि माधुर्यप्रसादयोः काव्यधर्मत्वं

प्रकार है—

ज्योतिर्लेखावलियगलितं यस्य बर्हं भवानी,
पुत्रप्रीत्या कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं,
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥[1]

यक्ष मेघ को कह रहा है कि देवगिरि पर स्थापित स्कन्द की मूर्ति के ऊपर पुष्पवृष्टि के रूप में अपनी सुखद वृष्टि करके और उनको स्नान कराने के बाद अपने गम्भीर गर्जनों से उनके वाहनभूत मयूर को आनन्दोल्लास से नाचने के लिए प्रेरित करना । जिस मयूर के चमकीले रेखामण्डल से युक्त, गिरे हुए पंख को पार्वती देवी अपने पुत्र स्कन्द के प्रेम से अर्थात यह मेरे पुत्र स्कन्द के मोर का पंख है इस-लिए अत्यन्त प्रेम से कुवलय दल को धारण करने वाले कान में अथवा कुवलय दल के साथ कान में आभूषण रूप में धारण करती है ।

[इसी श्लोक के पूर्वार्द्ध को यहाँ ग्रन्थकार ने आभिजात गुण के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है] जैसे—

जिस [स्कन्द के मोर] के चमकदार रेखामण्डल से युक्त और [स्वयं] गिरे हुए [न कि बलात् नोचे हुए] पंख को पार्वती देवी [यह मेरे पुत्र स्कन्द के मयूर का सुन्दर पंख है इस प्रकार की] पुत्र स्नेह की भावना से कुवलय दल को धारण करने योग्य कान में [अथवा कुवलय दल के साथ कान में आभूषण रूप से] धारण करती है ॥८७॥

यहाँ श्रुतिसुभगत्व आदि और स्वभावतः मृदु कान्ति [रूप आभिजात्य] सहृदयसंवेद्य रूप से [अपूर्व तत्व] परिस्फुरित होता है ।

[प्रश्न] लावण्य और आभिजात्य तो लोकोत्तर तरुणी-सौन्दर्य रूप वस्तु के धर्म रूप से [लोक में] प्रसिद्ध है वह काव्य का [धर्म] कैसे हो सकता है ।

[उत्तर] यहाँ शंका करें तो वह ठीक नहीं है । क्योंकि इस युक्ति से तो पूर्व

---

१. मेघदूत ४४ ।

विघटते । माधुर्यं हि गुड़ादिमधुरद्रव्यधर्मतया प्रसिद्धं तथाविधाह्लादकारित्वसामान्योपचारात् काव्ये व्यपदिश्यते । तथैव च प्रसादः स्वच्छसलिलस्फटिकादिधर्मतया प्रसिद्धः स्फुटावभासित्वसामान्योपचाराज् झगिति [प्रतीतिपेशलतां प्रतिपद्यते । तद्वदेव च काव्ये कविशक्तिकौशलोल्लिखितकान्तिकमनीयं बन्धसौन्दर्यं चेतनचमत्कारकारित्वसामान्योपचाराल्लावण्यशब्दव्यतिरेकेण शब्दान्तराभिधेयतां नोत्सहते । तथैव च काव्ये स्वभावमसृणच्छायत्वमाभिजात्यशब्देनाभिधीयते ।

ननु च कैश्चित् प्रतीयमानं वस्तु ललनालावण्यसाम्याल्लावण्यमित्युपपादितमिति—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव
वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं
विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥८८॥

[प्रसिद्ध अर्थात् पूर्व आचार्यों द्वारा अथवा उसके पहले] प्रतिपादित माधुर्य तथा प्रसाद-गुण का भी काव्यधर्मत्व नहीं बनता है । क्योंकि [लोक में] माधुर्य, गुड़ आदि मधुर पदार्थों के धर्म रूप में प्रसिद्ध है । [परन्तु] उस प्रकार के [मधुर पदार्थों के समान] आह्लादकारित्व साधर्म्य के कारण उपचार [गौणी वृत्ति] से काव्य में [भी माधुर्य शब्द से] कहा जाता है । और उसी प्रकार प्रसाद [शब्द भी] स्वच्छ जल अथवा स्फटिक आदि [पदार्थों] के धर्म रूप से [मुख्यतया] प्रसिद्ध है [किन्तु] स्फुटावभासित्व रूप साधर्म्य के द्वारा उपचार [गौणी वृत्ति] से तुरन्त अर्थ प्रतीति रूप सुन्दरता का बोधक हो जाता है । और उसी [माधुर्य एवं प्रसाद-गुणों के औपचारिक प्रयोग] के समान काव्य में कवि की प्रतिभा के कौशल से समुल्लसित कान्ति से कमनीय, रचना का सौन्दर्य सहृदयों में चमत्कारोत्पादन के साधर्म्य से उपचार द्वारा लावण्य के अतिरिक्त अन्य किसी शब्द से कहा नहीं जा सकता है । और वही स्वाभाविक सुकुमार सौन्दर्य काव्य में 'आभिजात्य' शब्द से कहा जाता है ।

[प्रश्न] किन्हीं [ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य] ने 'प्रतीयमान' वस्तु ललनाओं के लावण्य के समान होने से लावण्य कहा जाता है यह उपपादन किया है ।

यहाँ पूर्व-संस्करण में 'इत्युत्पादितप्रतीति' पाठ छपा है परन्तु वह बहुत सङ्गत नहीं दीखता है । उसके स्थान पर 'इत्युपपादितमिति' यह पाठ अधिक सङ्गत है । इसलिए हमने वही पाठ रखा है । इस कथन के समर्थन के लिए ग्रन्थकार आगे ध्वन्यालोक का १, ४ श्लोक नीचे उद्धृत करते हैं—

प्रतीयमान [व्यङ्ग्य अर्थ] कुछ और ही चीज है जो रमणियों के प्रसिद्ध [मुखादि] अवयवों से भिन्न [उनके] लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में [वाच्यार्थ से अलग] प्रतीत होता है ॥८८॥

तत्कथं बन्धसौन्दर्यमात्रं लावण्यमित्यमिधीयते ?

नैष दोषः, यस्मादनेन दृष्टान्तेन वाच्यवाचकलक्षणप्रसिद्धावयवव्यतिरिक्तत्वेनास्तित्वमात्रं साध्यते प्रतीयमानस्य, न पुनः सकललोकलोचनसंवेद्यस्य ललनालावण्यस्य, सहृदयहृदयानामेव संवेद्यं सत् प्रतीयमानं समीकर्तु पार्यते।

तच्च बन्धसौन्दर्यमेवाव्युत्पन्नपदपदार्थानामपि श्रवणमात्रेणैव हृदयहारित्वस्पर्धया व्यपदिश्यते। प्रतीयमानं पुनः काव्यपरमार्थज्ञानामेवानुभवगोचरतां प्रतिपद्यते। यथा कामिनीनां किमपि सौभाग्यं तदुपभोगोचितानां नायकानामेव

तब आप रचना के सौन्दर्य मात्र को लावण्य कैसे कहते हैं ?

[उत्तर] यह दोष [देना] ठीक नहीं है । क्योंकि [विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु] इस दृष्टान्त से वाच्य वाचक रूप प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न रूप में प्रतीयमान का अस्तित्वमात्र सिद्ध होता है । परन्तु समस्त [लौकिक साधारण] पुरुषों के नेत्रों द्वारा ग्रहण किए जाने वाला स्त्रियों का सौन्दर्य, केवल सहृदयों द्वारा ही अनुभव किए जाने योग्य प्रतीयमान अर्थ के बराबर नहीं किया [माना] जा सकता है ।

अर्थात् ललनाओं का लावण्य तो हर एक साधारण पुरुष भी ग्रहण करता है परन्तु काव्य के प्रतीयमान व्यङ्ग्य अर्थ का अनुभव हर एक व्यक्ति नहीं कर सकता है उसे केवल सहृदय पुरुष ही समझ सकते हैं । इसलिए ललना-लावण्य को प्रतीयमान अर्थ के बराबर का महत्त्व नहीं दिया जा सकता है । ध्वनिकार ने जो उनकी समानता दिखलाई है उसका अभिप्राय केवल इतना ही हो सकता है कि जैसे ललनाओं का लावण्य उनके प्रसिद्ध अवयवों से अलग होता है इसी प्रकार काव्य में प्रतीयमान अर्थ वाच्यादि अर्थों से भिन्न ही होता है ।

यहाँ पूर्व-संस्करण में 'लावण्यस्य' के बाद विराम-चिन्ह दिया हुआ है । वह नहीं होना चाहिए। और अगले वाक्य के प्रारम्भ में जो तस्य पाठ दिया गया है वहाँ तच्च पाठ अधिक उपयुक्त है ।

और पद और पदार्थों को न जानने वालों को भी श्रवणमात्र से ही हृदयहारी रचना सौष्ठव ही वह [लावण्य] कहा जाता है। [जैसे ललना का लावण्य साधारण पुरुषों को भी अनुभव हो जाता है इसी प्रकार काव्य का बन्धसौन्दर्य पद-पदार्थ की व्युत्पत्ति से रहित साधारण पुरुषों को भी श्रवणमात्र से प्रतीति हो जाता है। इस कारण बन्धसौन्दर्य के लिए ही लावण्य पद का प्रयोग उचित है।] और प्रतीयमान अर्थ काव्य के मर्मज्ञों को ही अनुभव होता है । जैसे कामिनियों का कुछ सौभाग्य विशेष उनका उपभोग करने योग्य नायकों के ही संवेदन का विषय होता है । परन्तु

संवेद्यतामर्हति । लावण्यं पुनस्तासामेव सत्कविगिरामिव सौन्दर्यं सकललोकगोचरतामायातीत्युक्तमेव । इत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥३३॥

एवं सुकुमारस्य लक्षणमभिधाय विचित्रं लक्षयति—

प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता ।
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते ॥३४॥
अलङ्कारस्य कवयो यत्रालङ्करणान्तरम् ।
असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत् ॥३५॥
रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरैर्भूषणैर्यथा ।
कान्ताशरीरमाच्छाद्ये भूषायै परिकल्प्यते ॥३६॥
यत्र तद्वदलङ्कारैर्भ्राजमानैर्निजात्मना ।
स्वशोभातिशयान्तःस्थमलङ्कार्यं प्रकाश्यते ॥३७॥

उनका लावण्य सत्कवियों के वाणी के सौन्दर्य [या बन्धसौन्दर्य] के समान सब लोगों का [अनुभव] विषय होता है । यह कह ही चुके हैं । इसलिए [इस विषय में] अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं रहती है ।।३३।।

इस प्रकार सुकुमार [मार्ग] का लक्षण [और उसके गुणों] को कह कर [आगे] विचित्र [मार्ग के लक्षण] को कहते हैं—

जहाँ [कवि की] प्रतिभा के प्रथम विलास के समय पर [ही] शब्द और अर्थ के भीतर [कुछ अपूर्व] वक्रता स्फुरित होती हुई सी [प्रतीत] होने लगती है । [वह विचित्र मार्ग है ॥३४॥]

[अथवा] जहाँ कवि [एक ही अलङ्कार से] सन्तुष्ट न होने से एक अलङ्कार [को अलंकृत करने] के लिए हार आदि में मणियों के जड़ाव के समान दूसरा अलङ्कार जोड़ते हैं । [वह विचित्र मार्ग है ॥३५॥]

रत्नों की किरणों की छटा के बाहुल्य से चमकते हुए आभूषणों से ढक देने से जैसे कान्ता का शरीर [और भी] भूषित हो जाता है । [इसी प्रकार अनेक अलङ्कारों से जहाँ काव्य को अलंकृत करने का प्रयत्न किया जाता है वह विचित्र मार्ग कहलाता है ॥३६॥]

जहाँ इसी प्रकार भ्राजमान अलङ्कारों के द्वारा अपनी [स्वाभाविक] शोभा के भीतर छिपा हुआ अलङ्कार्य [रसादि] अपने स्वरूप से प्रकाशित होता है । [वह विचित्र मार्ग है ॥३७॥]

यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम् ।
उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते ॥३८॥
यत्रान्यथाभवत् सर्वमन्यथैव यथारुचि ।
भाव्यते प्रतिभोल्लेखमहत्त्वेन महाकवेः ॥३९॥
प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्य कस्यचित् ॥४०॥
स्वभावः सरसाकूतो भावानां यत्र बध्यते ।
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः ॥४१॥
विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते ।
परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा ॥४२॥
सोऽति दुःसञ्चरो येन विदग्धकवयो गताः ।
खड्गधारापथेनेव सुभटानां मनोरथाः ॥४३॥

जहाँ पुराने कवियों द्वारा वर्णित [अनूतोल्लेखं जिसका वर्णन नया नहीं है अर्थात् पुरातन कवियों द्वारा वर्णित है] वस्तु भी केवल उक्ति के वैचित्र्यमात्र से [सौन्दर्य की] चरम सीमा को ले जाई जाती है। [वह विचित्र मार्ग है ॥३८॥]

जहाँ महाकवि की प्रतिभा के प्रयोग के प्रभाव से अन्य प्रकार की [सौन्दर्य हीन] वस्तु भी [कवि की अपनी] रुचि के अनुसार अन्य ही प्रकार की [लोकोत्तर-सौन्दर्ययुक्त-सी] हो जाती है। [वह विचित्र मार्ग है ॥३९॥]

जहाँ वाच्य वाचक वृत्ति से भिन्न किसी [अनिर्वचनीय] वाक्यार्थ [विषय] की प्रतीयमानता [व्यङ्ग्य रूपता] की रचना की जाती है। [वह विचित्र मार्ग है ॥४०॥]

जहाँ किसी कमनीय वैचित्र्य से परिपोषित और सरस अभिप्राय वाला पदार्थों का स्वभाव वर्णन किया जाता है [वह विचित्र मार्ग है ॥४१॥]

जहाँ वक्रोक्ति का वैचित्र्य [ही] जीवन के समान प्रतीत होता है और जिसके अन्दर किसी अपूर्व अतिशय की अभिधा [कथन उक्ति] स्फुरित होती है [वह विचित्र मार्ग है ॥४३॥]

सुभटों के मनोरथ जैसे खड्गधारा के मार्ग पर चलते हैं इस प्रकार चतुर कवि जिस [मार्ग] से गये हैं [जिस विचित्र मार्ग का अवलम्बन कर विदग्ध सत्कवियों ने अपने काव्यों की रचना की है] वह [मार्ग खड्गधारा के समान] अत्यन्त [कठिन और] दुःसञ्चर [विचित्र मार्ग] है। [उसी को विचित्र मार्ग कहते हैं ॥४२॥]

स बिचित्राभिधानः पन्था कीदृक्—'अतिदुःसञ्चरः', यत्रातिदुःखेन सञ्चरते । किं बहुना, 'येन विदग्धकवयः' केचिदेव व्युत्पन्नाः केवलं गताः प्रयाताः तदाश्रयेण, काव्यानि चक्रुरित्यर्थः । कथम्, 'खड्गधारापथेनेव सुभटानां मनोरथाः । निस्त्रिंशधाराभार्गेण यथा सुभटानां महावीराणां मनोरथाः संकल्पविशेषाः । तदयमत्राभिप्रायः—यदसिधारामार्गगमने मनोरथानामौचित्यानुसारेण यथारुचि प्रवर्तमानानां मनाङ्मात्रमपि म्लानता न सम्भाव्यते । साक्षात् समरसम्मर्दसमाचरणे पुनः कदाचित् किमपि म्लानत्वमपि सम्भाव्यते । तदनेन मार्गस्य दुर्गमत्वं तत्प्रस्थितातानाञ्च विहरणप्रौढिः प्रतिपाद्यते ।

कीदृक् स मार्गः, यत्र यस्मिन् शब्दाभिधेययोरभिधानाभिधीयमायोरन्तः स्वरूपानुप्रवेशिनी वक्रता भणितिविच्छित्तिः स्फुरतीव प्रस्यन्दमानेव विभाव्यते लक्ष्यते । कदा 'प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये' प्रतिभायाः कविशक्तेः,

---

सुकुमार-मार्ग के निरूपण में ग्रन्थकार ने जैसे पाँच श्लोकों का समुदाय रूप 'कुलक' लिखा था इसी प्रकार इस 'विचित्र-मार्ग' का निरूपण ३४ से ४३ तक दस कारिकाओं के 'कुलक' में किया है । सुकुमारमार्ग की व्याख्या में भी वृत्तिभाग के लिखते समय ग्रन्थकार ने पाठक्रम को छोड़कर अर्थक्रम से ही इस कुलक की व्याख्या की थी । इसी प्रकार इस विचित्र मार्ग की व्याख्या में पाठक्रम को छोडकर अर्थक्रम को ही ग्रन्थकार ने अपनाया है । इसलिए इसकी व्याख्या भी नीचे की ओर से अथवा ४३वीं कारिका से ग्रन्थकार प्रारम्भ करते हैं—

४३—वह विचित्र मार्ग किस प्रकार का है । 'अत्यन्त दुर्गम' जिसमें बड़ी कठिनता से चला जा सके । अधिक क्या कहा जाय [केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि] जिस से केवल विदग्ध कवि अर्थात् केवल विरले निपुण कवि ही गये हैं अर्थात् उसके आश्रय से अपने काव्यों की रचना कर सके हैं । कैसा [दुर्गम है अथवा कैसे गये हैं कि] वीरों के मनोरथ जैसे तलवार की धार पर चलते हैं । जैसे महावीर पुरुषों के मनोरथ अर्थात् संकल्पविशेष तलवार के मार्ग से चलते हैं । इसका यह अभिप्राय हुआ कि औचित्य के अनुसार यथारुचि चलने वाले मनोरथों के असिधारा के मार्ग पर चलने से तनिक-सी भी म्लानता की सम्भावना नहीं रहती है । और साक्षात् युद्ध को संघर्ष करने पर तो शायद कभी कुछ म्लानता भी सम्भव हो जाय । इसलिए इस [असिधारा के उदाहरण] से मार्ग की दुर्गमता और उस पर चलने वालों को चलने की प्रौढ़ि का प्रतिपादन किया गया है ॥४३॥

३४—वह मार्ग कैसा है कि-जिसमें वाचक और वाच्य अर्थात् शब्द और अर्थ के स्वरूप के भीतर भरी हुई वक्रता अथवा उक्ति का वैचित्र्य स्फुरित अर्थात् प्रवाहित

अचरमोल्लेखावसरे । तदयमत्र परमार्थः यत् कविप्रयत्ननिरपेक्षयोरेव शब्दार्थयोः स्वाभाविकः कोऽपि वक्रताप्रकारः परिस्फुरन् परिदृश्यते ।

यथा—

कोऽयं भाति प्रकारस्तव पवन पदं लोकपादाहतीनां
तेजस्विव्रातसेव्ये नभसि नयसि यत्पांसुपूरं प्रतिष्ठाम् ।

होती हुई सी प्रतीत होती है । कब—'प्रतिभा के प्रथम बार उद्भेद के अवसर पर' । प्रतिभा अर्थात् कवित्व शक्ति के प्रथम विकास के अवसर पर । इसका अभिप्राय यह हुआ कि कवि के प्रयत्न की अपेक्षा किए बिना [उसकी प्रतिभा के बल से] स्वभावतः शब्द तथा अर्थ में कोई अपूर्व सौन्दर्य चमकता हुआ-सा दिखलाई देता है । जैसे—

[यह सुभाषितावली में सं० १०३२ पर भागवतामृतपाद का श्लोक है । लोगों के पैरों-तले कुचले जाने वाली धूल उड़कर आकाश में व्याप्त हो जाती है और वायु उसको चारो ओर फैला देता है । इसको देखकर अन्योक्ति रूप में कवि वायु को कह रहा है कि]—

हे वायु देव यह आपका कौनसा तरीक़ा है कि लोगों के पैरों से कुचले गये धूलि के समूह को आप उठाकर तेजस्वी [सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि] से सेवित [उनके रहने योग्य स्थान] आकाश में प्रतिष्ठित कर देते हैं । जिस [धूलि] के उठने पर; लोगों की आँखों को जो कष्ट होता है उसे जाने भी दें [उस पर ध्यान न भी दिया जाय] तो भी; इस [तुम्हारे अपने] शरीर में उत्पन्न किए हुए मलिनता रूप दोष को तुम स्वयं ही कैसे सहन कर सकते हो । [अर्थात् वह धूलि और लोगों को कष्ट देती है उसे जाने भी दें तो तुम तो उसका उपकार करने वाले हो परन्तु वह स्वयं तुम्हारे शरीर को भी मलिन कर देता है । ऐसे दुष्ट धूलिपुञ्ज को उठाकर आप तेजस्वी देवताओं के बैठने योग्य आकाश में प्रतिष्ठित कर देते हो यह आपका कौन सा तरीक़ा है ।]

यहां [इस उदाहरण में] अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार प्रधान रूप से वाक्यार्थ है । [अप्राकरणिक के कथन से जहाँ प्राकरणिक अर्थ का आक्षेप होता है उसको अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार कहते हैं । मम्मटाचार्य ने उसका लक्षण यह किया है कि

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ।[1]

इस लक्षण के अनुसार इस श्लोक में अप्रस्तुत वायु के वर्णन से नीच जनों का उद्धार करने वाले किसी प्रस्तुत महापुरुष रूप] प्रतीयमान अन्य पदार्थ के [द्योतक के] रूप में [वायु वर्णन के] प्रयुक्त होने से उसमें विचित्र कवि-शक्ति से, समुल्लिखित शब्द तथा अर्थ की रचना के प्रभाव से प्रारम्भ में [श्लोक को पढ़ते] ही

---

१. का. प्र. १०, ९८ ।

यस्मिन्नुत्थाप्यमाने जननयनपथोपद्रवस्तावदास्तां
केनोपायेन सह्यो वपुषि कलुषतादोष एष त्वयैव ॥८६॥

अत्राप्रस्तुतप्रशंसालक्षणोऽलङ्कारः प्राधान्येन वाक्यार्थः । प्रतीयमान-पदार्थान्तरत्वेन प्रयुक्तत्वात् तत्र विचित्रकविशक्तिसमुल्लिखितवक्रशब्दार्थोप-निबन्धमाहात्म्यात् प्रतीयमानमप्यभिधेयतामिव प्रापितम् । प्रक्रम एव प्रतिभा-समानत्वान्न चार्थान्तरप्रतीतिकारित्वेऽपि पदानां श्लेषव्यपदेशः शक्यते कर्तुम् । वाच्यस्य समप्रधानभावेनानवस्थानात । अर्थान्तरप्रतीतिकारित्वञ्च प्रतीय-मानार्थस्फुटत्वावभासनार्थमुपनिबध्यमानमतीवचमत्कारितां प्रतिपद्यते ।

तदेव विचित्रं प्रकारान्तरेण लक्षयति—'अलङ्कारस्येत्यादि' । यत्र यस्मिन् मार्गे 'कवयो निबन्धन्ति' विरचयन्ति अलङ्कारस्य विभूषणस्यालङ्करणान्तरं विभूषणान्तरं, असन्तुष्टाः सन्तः । कथम्—'हारादेर्मणिबन्धवत्', मुक्ताकलाप-प्रभृतेर्यथा पदकादिमणिबन्धं रत्नविशेषविन्यासं वैकटिकाः ।

[प्रतीत हो जाने से], प्रतीयमान [प्रकृत महापुरुष रूप अर्थ] भी मानों वाच्यता को प्राप्त करा दिया गया है । और प्रारम्भ में ही पदों के [अप्राकरणिक वायु के वर्णन से प्राकरणिक पतित पावन महापुरुष रूप] दूसरे अर्थ की प्रतीति करान वाले होने पर भी यहाँ श्लेष [अलङ्कार] नहीं कहा जा सकता है । [उस प्रतीयमान अर्थ के] वाच्य के [साथ] समप्रधान रूप से स्थित न होने से । [अर्थात् श्लेष में प्रतीत होने वाले दोनों अर्थों का समप्राधान्य होना चाहिए । यहाँ दोनों अर्थों का समप्राधान्य नहीं है अपितु प्रतीयमान अर्थ का ही प्राधान्य है] और [पदों का] अर्थान्तर प्रतीतिकारित्व, प्रतीयमान अर्थ के स्पष्ट रूप से बोधन के लिए उपनिबद्ध होकर अत्यन्त चमत्कारयुक्त हो गया है ॥३४॥

३५—उसी विचित्र [मार्ग] का 'अलङ्कारस्य' इत्यादि [३५वीं कारिका में] दूसरे प्रकार के लक्षण करते हैं । जहाँ जिस मार्ग में कवि [एकमात्र अलङ्कार से] असन्तुष्ट होकर एक अलङ्कार अर्थात् विभूषण का दूसरा अलङ्कार अर्थात् विभूषण बनाते अर्थात् रचते हैं । कैसे ? हार आदि [एक आभूषण] में मणियों को जड़ने [रूप दूसरे आभूषण] के समान । जैसे मुक्ता-हार आदि में जौहरी [वैकटिकाः] पदक आदि [रूप से] मणियों का जड़ाव अर्थात् रत्न विशेषों का विन्यास करते हैं । [इस प्रकार एक अलङ्कार में दूसरे अलङ्कार की योजना का उदाहरण] जैसे—

यथा—

हे हेलाजितबोधिसत्व वचसां किं विस्तरैस्तोयधे
नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः।
तृष्यत्पान्थजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो
भारप्रोद्वहने करोषि कृपया साहाय्यकं यन्मरोः ॥९०॥

[यह श्लोक भर्तृहरि कृत वाक्यपदीय की पुञ्जराज कृत टीका में द्वितीय काण्ड में २४९वीं कारिका के व्याख्यान के अवसर पर उद्धृत किया गया है। काव्य प्रकाश पृ० ६७१, हेमचन्द्र टीका पृ० २८, तथा रुय्यक के अलङ्कारसर्वस्व के पृ० ११३ पर भी यह श्लोक उदाहरण रूप में उद्धृत किया गया है। परन्तु इसके रचयिता का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है।

अनायास बोधिसत्व को भी जीत लेने वाले हे समुद्र [तुम्हारी प्रशंसा में] अधिक क्या कहें [केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि] तुम्हारे समान परोपकार करने का व्रत धारण करने वाला दूसरा [कोई व्यक्ति इस संसार में मिलना सम्भव] नहीं है। क्योंकि प्यासे पथिक जनों को [जल प्रदान करने रूप] उपकार करने में विमुखता के कारण होने वाली बदनामी के भार के उठाने में आप मरुभूमि की सहायता कर रहे हैं।९०।

इसका अभिप्राय यह है कि मरुस्थल में पथिकों को पीने के लिए पानी मिलना अत्यन्त कठिन होता है। इसी के लिए मरुस्थल बदनाम है। समुद्र में यद्यपि पानी भरा हुआ है परन्तु वह भी पीने योग्य नहीं होता है। इसलिए पथिकों को तृष्णा शान्त न कर सकने का जो दोष मरुस्थल पर है वही दोष समुद्र पर भी लागू होता है। इसलिए उसे बदनामी के भार के उठाने में मरुस्थल का सहायक बतलाया है।

इस श्लोक में भी वस्तुतः अप्रस्तुत समुद्र के वर्णन से उस धनिक पुरुष की, जो कि निर्धनों की सहायता, अथवा आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता है, निन्दा की गई है। मरुस्थल या उसके सदृश अन्य निर्धन व्यक्तियों पर तो जल अथवा धन है ही नहीं इसलिए यदि वे पथिक जनों अथवा भिक्षुकों की आवश्यकता की पूर्ति न कर सकें तो कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु जल से भरे हुए समुद्र के समान धन धान्य से परिपूर्ण समृद्ध जन भी यदि याचक जनों की सहायता न करें तो अत्यन्त निन्दा की बात है। इस अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए यह श्लोक लिखा गया है।

---

१. काव्य प्रकाश पृ० ६७१ पर उद्धृत।

अत्रात्यन्तगर्हणीयचरितं पदार्थान्तरं प्रतीयमानतया चेतसि निधाय तथाविधविलसितः सलिलनिधिर्वाच्यतयोपक्रान्तः। तदेतावदेवालंकृतेरप्रस्तुतप्रशंसायाः स्वरूपम्। गर्हणीयप्रतीयमानपदार्थान्तरपर्यवसानमपि वाक्यं वस्तुन्युपक्रमरमणीयतयोपनिबध्यमानं तद्विदाह्लादकारितामायाति। तदेतद् व्याजस्तुतिप्रतिरूपकप्रायमलङ्करणान्तरमप्रस्तुतप्रशंसाया भूषणत्वेनोपात्तम्। न चात्र सङ्करालङ्कारव्यवहारो भवितुमर्हति, पृथगतिपरिस्फुटत्वेनावभासनात्। न चापि संसृष्टिसम्भवः समप्रधानभावेनानवस्थितेः। न च द्वयोरपि वाच्यालङ्कारत्वं, विभिन्नविषयत्वात्।

यहाँ [इस श्लोक में] अत्यन्त निन्दनीय चरित्र वाले [कृपण धनिक रूप] पदार्थान्तर को मन में रखकर उसी प्रकार का [जल रहते भी प्यासों के लिए व्यर्थ] समुद्र [वाच्यतया] वर्णनीय रूप से लिया गया है। इतना ही अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार का स्वरूप है। प्रतीयमान निन्दनीय [कृपण धनिक रूप] दूसरे पदार्थ [के बोधन] में समाप्त होने वाला वाक्य भी, उस विषय में [वस्तुनि] प्रारम्भ में ही [अत्यन्त] रमणीय रूप से विरचित होकर सहृदयों के आह्लादकारित्व को प्राप्त हो गया है। इस प्रकार वह व्याजस्तुति जैसा [प्रतिरूपक-प्राय] दूसरा अलङ्कार अप्रस्तुत प्रशंसा [रूप प्रथम अलङ्कार] के आभूषण के रूप में [कवि के द्वारा] ग्रहण किया गया है। [इस प्रकार यहाँ व्याजस्तुति तथा अप्रस्तुत प्रशंसा रूप दो अलङ्कार होने पर भी उनकी सङ्कर अथवा संसृष्टि अलङ्कार नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि सङ्करालङ्कार तो अङ्गाङ्गिभाव, अथवा एकाश्रयानुप्रवेश अथवा सन्देह रूप तीन प्रकार का होता है। यहाँ इन तीनों में से कोई बात नहीं है। और संसृष्टि में दोनों अलङ्कार निरपेक्षतया समप्रधान रूप से स्थित होते हैं। यहाँ दोनों अलङ्कारों का 'समप्राधान्य' भी नहीं है इसलिए यहाँ दो अलङ्कार होते हुए भी उसको सङ्करालङ्कार या संसृष्टि का उदाहरण नहीं कहा जा सकता है। यह बात कहते हैं] [अप्रस्तुत प्रशंसा तथा व्याजस्तुति के] अलग-अलग अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रतीत होने से यहाँ सङ्कर अलङ्कार का व्यवहार भी नहीं किया जा सकता है और [अप्रस्तुत प्रशंसा तथा व्याजस्तुति दोनों अलङ्कारों के] तुल्य प्राधान्य रूप से न रहने के कारण [उनकी] संसृष्टि भी नहीं हो सकती है। और न दोनों वाच्य अलङ्कार हैं। भिन्न विषय [अर्थात् एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान] होने से [दोनों को वाच्य नहीं कहा जा सकता है। और न उनको सङ्कर या संसृष्टि रूप माना जा सकता है। इसलिए यहाँ व्याजस्तुति, अप्रस्तुत प्रशंसा के, अलङ्कार-रूप में ही प्रयुक्त हुई है अतएव हारादि में रत्नों के जड़ने के समान अलङ्कार में दूसरे अलङ्कार के सन्निवेश का यह उदाहरण है। और विचित्र मार्ग का प्रदर्शक है]।

यथा वा—

नामाप्यन्यतरोर्निमीलितमभूत् तत्तावदुन्मीलितं
प्रस्थाने स्खलतः स्ववर्त्मनि विधेरन्यद् गृहीतः करः।
लोकश्चायमदृष्टदर्शनकृताद्[1] दृग्वैशसादुद्धृतो
युक्तं काष्ठिक लूनवान् यदसि तामाम्रालिमाकालिकीम् ॥६१॥

अत्रायमेव न्यायोऽनुसन्धेयः। यथा च—

किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा बल्लरी
लीलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः।

अथवा जैसे [इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण देते हैं]—

यह श्लोक भल्लटशतक का ८६वाँ श्लोक है। सुभाषितावली में १०१७ संख्या पर भी उद्धृत हुआ है। किसी लकड़हारे द्वारा बिना फ़सल के, अकाल में फलने वाले आमों की पंक्ति के काटे जाने की प्रशंसा द्वारा, अनायास समृद्ध हो जाने वाले व्यक्तियों के धनादि का अपहरण करने वाले राजा आदि की प्रशंसा की गई है। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—

[इस आकालिक बिना फ़सल के फलने वाली आम्र पंक्ति के कारण] अन्य वृक्षों का नाम भी लुप्त-सा हो चला था [आम्र पंक्ति को काटकर] उसका उद्धार किया। विधि अर्थात् ब्रह्मा अपने मार्ग से चलते हुए [अकाल में आमों के फलने से] जो [स्खलित पतित या] पथभ्रष्ट हो रहा था उसका हाथ पकड़कर सहारा दिया यह दूसरा लाभ हुआ। और संसार को [असमय में] न देखे गए [पदार्थ] के देखने से होने वाले नेत्रों के कष्ट से बचा लिया। इसलिए हे लकड़हारे तुमने जो आकालिक [असमय में फलने वाली] आम्र-वृक्षों की पंक्ति को काट डाला सो उचित ही किया है।६१।

इस उदाहरण में भी [इससे पहले के 'हे हेलाजितबोधिसत्व' इत्यादि श्लोक में कही गई] इसी युक्ति का अवलम्बन करना चाहिए। [अर्थात् इसमें अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार के विभूषण रूप में व्याजस्तुति अलङ्कार का उपादान कवि ने किया है। और उन दोनों में सङ्कर अथवा संसृष्टि अलङ्कार नहीं माना जा सकता है]।

और जैसे [इसी का तीसरा उदाहरण]—

यह पद्य सुभाषितावली १४७१ में 'बन्धु' नामक किसी कवि का बतलाया गया है। 'बन्धोः' पद से सम्भवतः सुबन्धु कवि का ग्रहण अभिप्रेत होगा। रुय्यक के 'अलङ्कार सर्वस्व' में पृ० ४३ पर भी उद्धृत हुआ है।

यह [नायिका] क्या नव-यौवन रूप वृक्ष की रस-बाहुल्य से [परिपूर्ण अत्यन्त रसमयी] खिली हुई नवीन लता है, अथवा मर्यादा का अतिक्रमण करने

---

१. पूर्व संस्करण में कृता पाठ है। परन्तु पञ्चम्यन्त पाठ होना चाहिए।

उद्दामोत्कलिकावतीं स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः ॥६२॥[२]

अत्र रूपकलक्षणो योऽयं वाक्यालङ्कारः, तस्य सन्देहोक्तिरियं छायान्तरातिशयोत्पादनायोपनिबद्धा चेतनचमत्कारितामावहति । शिष्टं पूर्वोदाहरणद्वयोक्तमनुसर्तव्यम् ।

अन्यच्च कीदृक्—'रत्नेत्यादि युगलकम् । यत्र यस्मिन्नलङ्कारैर्भ्राजमानैर्निजात्मना स्वजीवितेन भासमानैर्भूषायै परिकल्प्यते शोभायै भूष्यते । कथम्-'यथा भूषणैः कङ्कणादिभिः'। कीदृशैः, 'रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरैः' मणिमयूखोल्लासभ्राजिष्णुभिः । किं कृत्वा 'कान्ताशरीरमाच्छाद्य' कामिनीवपुः स्वप्रभाप्रसरतिरोहितं विधाय, भूषायै, कल्प्यते । तद्वदेवालङ्कारैरुपमादिभिर्यत्र कल्प्यते ।

वाले सौन्दर्यसागर की लहर है, अथवा अत्यन्त उत्कण्ठित होने वाले प्रेमियों को अपने सिद्धान्तों [कामशास्त्र के व्यवहारों] का शिक्षा देने में तत्पर [शृङ्गार रस के अधिष्ठाता] कामदेव की उपदेश यष्टि [शिक्षा देने वाली जादू की छड़ी] है ।६२।

[इसमें कामिनी नायिका के ऊपर वल्लरी, लहरिका, उपदेशयष्टि आदि का आरोप होने से] यहाँ जो यह रूपक नामक अलङ्कार है उसके सौन्दर्यातिशय के उत्पादन के लिए उपनिबद्ध यह सन्देहोक्ति [सन्देहालङ्कार] सहृदयों के लिए अत्यन्त चमत्कारजनक प्रतीत हो रही है । पूर्वोक्त दोनों उदाहरणों में गही गई शेष बात यहाँ भी समझ लेनी चाहिए । [अर्थात् दो अलङ्कारों के होने पर भी सङ्कर अथवा संसृष्टि अलङ्कार यहाँ नहीं है । और न दोनों वाच्यालङ्कार मात्र हैं । इसलिए यहाँ भी हारादि में मणियों के प्रयोग के समान एक अलङ्कार के विभूषण रूप में दूसरे अलङ्कार का प्रयोग है] ।

[कारिका ३६, ३७]-और कैसा-यह रत्नेत्यादि दो श्लोकों[३६-३७वीं कारिका] में कहते हैं । जहाँ जिस [मार्ग] में अपने स्वरूप में प्रकाशमान अर्थात् अपने स्वरूप से प्रतीत होने वाले अलङ्कार के द्वारा भूषित करने के लिए [काव्य की] रचना की जाती है । अर्थात् शोभा के लिए [रचना] अलंकृत की जाती हैं । कैसे कि जैसे—'कङ्कण आदि भूषणों से' । कैसे [भूषणों से]- रत्नों की रश्मियों की छटा से चमकते हुए' अर्थात् मणियों की किरणों के निकलने से देदीप्यमान [कङ्कण आदि आभूषणों] से । क्या करके-' कान्ता के शरीर को ढँककर', अपनी कान्ति के प्रसार से कामिनी के शरीर को ढककर जैसे [आभूषण उस कामिनी के शरीर को] विभूषित करते हैं उसी प्रकार उपमादि अलङ्कारों से जहाँ [जिस मार्ग में काव्य की शोभा] की जाती है [उसको विचित्र मार्ग कहते हैं] । उन [उपमादि] की । शोभा के लिए रचना यह

---

२. सुभाषितावली १४७१ ।

एतच्चैतेषां भूषायै कल्पनं यदेतैः स्वशोभातिशयान्तःस्थं निजकान्तिकमनीयान्तर्गतमलङ्कार्यमलङ्करणीयं प्रकाश्यते द्योत्यते। तदिदमत्र तात्पर्यम्—तदलङ्कारमहिमैव तथाविधोऽत्र भ्राजते, तस्यात्यन्तोद्रिक्तवृत्तेः स्वशोभातिशयान्तर्गतमलङ्कार्यं प्रकाश्यते।

यथा—

आर्यस्याजिमहोत्सवव्यतिकरे नासंविभक्तोऽत्र वः
कश्चित् क्वाप्यवशिष्यते त्यजत रे नक्तञ्चराः सम्भ्रमम्।
भूयिष्ठेष्वपि का भवत्सु गणनात्यर्थं कियुत्ताम्यते
तस्योदारभुजोष्मणोऽनवसिता नाचारसम्पत्तयः ॥६३॥

[कहलाती] है कि अपनी शोभातिशय के भीतर अर्थात् अपनी कान्ति की कमनीयता के अन्तर्गत अलङ्कार्य अर्थात् मुख्य [अलङ्करणीय], अर्थ प्रकाशित अर्थात् [शोभातिशय से] द्योतित होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उस [वाच्य] अलङ्कार का इस प्रकार का प्रभाव दिखलाई देता है कि [अलंकृत किये जाने योग्य] अलङ्कार्य [अर्थ] अत्यन्त तीव्र वृत्ति वाले उस अलङ्कार के शोभातिशय के अन्तर्गत [तिरोहित हुआ-सा] प्रकाशित होता है।

जैसे [‘लङ्का-युद्ध’ के समय राक्षसों का सम्बोधन करके लक्ष्मण कह रहे हैं कि]—

हे राक्षसो घबड़ाओ नहीं, आर्य [रामचन्द्र] के [इस] संग्राम रूप महोत्सव में तुम में से कोई कहीं ऐसा नहीं बचेगा जिसे उसका भाग प्राप्त न हो। [तुम शायद यह समझते हो कि हम तो बहुत बड़ी संख्या में हैं इसलिए राम हमारा क्या कर सकेंगे? सो बात नहीं है] बहुत होने पर भी [रामचन्द्रजी के सामने] तुम्हारी क्या गिनती है इसलिए [व्यर्थ] अधिक उछल-कूद क्यों कर रहे हो। भुजाओं की उदार उष्णता से युक्त उन [राम] का न आचार समाप्त हुआ है [कि तुमको तुम्हारा भाग देने की शिष्टता न दिखलावें] और न सम्पत्ति समाप्त हुई है [कि तुम्हारा भाग तुमको न दें। तुम्हारा भाग तुमको न मिल सके इसके दो ही कारण हो सकते थे या तो रामचन्द्र जी में इतना आचार अर्थात् शिष्टता न होती कि आपका ध्यान रखते अथवा कृपणता आदि के कारण सम्पत्ति के न होने से आपका भाग देने की इच्छा होते हुए भी न दे सकते। इनमें से दोनों ही बातें नहीं हैं। इसलिए आप लोग घबड़ावें नहीं। आर्य रामचन्द्रजी के रचाए हुए इस युद्ध रूप महोत्सव में आप सबका भाग आपको अवश्य मिलेगा। अर्थात् आप चाहे कितनी ही बड़ी संख्या में हों आप सबकी खबर ली जायगी। एक भी बचने नहीं पावेगा] ।६३।

अत्राजेर्महोत्सवव्यतिकरत्वेन तथाविधं रूपणं विहितं यत्रालङ्कार्यं 'आर्यः स्वशौर्येण युष्मान् सर्वानेव मारयति' इत्यलङ्कारशोभातिशयान्तर्गतत्वेन भ्राजते। तथा च कश्चित् सामान्योऽपि क्वापि दवीयस्यपि देशे नासंविभक्तो युष्माकमवशिष्यते । तस्मात् समरमहोत्सवसंविभागलम्पटतया प्रत्येकं यूयं सम्भ्रमं त्यजत । गणनया वयं भूयिष्ठा इत्यशक्यानुष्ठानतां यदि मन्यध्वे तदप्ययुक्तम् । यस्मादसंख्यसंविभागाशक्यता कदाचिदसम्पत्या कार्पण्येन वा सम्भाव्यते । तदेतदुभयमपि नास्तीत्युक्तम्—'तस्योदारभुजोष्मणोऽनवसिता नाचारसम्पत्तयः' इति ।

यथा च—

कतमः प्रविजृम्भितविरहव्यथः
शून्यतां नीतो देशः ॥६४॥[1] इति ।

यहां [इस उदाहरण में] युद्ध को महोत्सव बनाकर इस प्रकार का रूपक बांधा है कि जिसमें अलङ्कार्य 'आर्य [रामचन्द्र जी] अपने पराक्रम से तुम सब राक्षसों को मार डालेंगे' यह [व्यङ्ग्य अर्थ] अलङ्कार [रूपक] के शोभा के अतिशय के अन्तर्गत [दबा हुआ-सा] प्रतीत होता है । जैसे कि तुम [राक्षसों] में से कोई साधारण-सा भी कहीं दूर देश में [होने पर] भी [अपना उचित] भाग पाये बिना नहीं बचेगा । इसलिए युद्ध रूप महोत्सव के भाग पाने के लिए लालची से [तुम जो घबड़ा रहे हो सो उस] घबराहट को तुम सब छोड़ [ही] दो । हम गणना में बहुत अधिक हैं इसलिए [हम सबको भाग देने का] अनुष्ठान असम्भव है यदि ऐसा समझते हो तो वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि असंख्य [व्यक्तियों] को भाग देने की असक्यता[असम्भवता दो ही कारणों से हो सकती है] या तो सम्पत्ति [शक्ति] के अभाव से अथवा[आचारहीनता अशिष्टतारूप] अनुदारता [कृपणता] से ही हो सकती है । ये दोनों ही बातें नहीं हैं । यह, 'उनकी उदार भुजाओं की गर्मी से युक्त उन [राम] का न आचार [शिष्टता उदारता] समाप्त हुआ है और न सम्पत्ति [शक्ति] समाप्त हुई है' इस [पंक्ति] के द्वारा कह दी है ।

और जैसे [इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण]—

[आपने] कौन सा देश विरह-व्यथा युक्त और शून्य कर दिया है ? ।६४।

---

१. हर्षचरित, १ पं० ४०—४१

यथा च—

कानि च पुण्यभाञ्जि
भजन्त्यभिख्यामक्षराणि ॥६५॥[1] इति ।

अत्र 'कस्मादागताः स्थ', किञ्चास्य नाम इत्यलङ्कार्यमप्रस्तुतप्रशंसा-लक्षणालङ्कारच्छायाच्छुरितत्वेनैतदीयशोभान्तर्गतत्वेन सहृदयहृदयाह्लादकारितां प्रापितम् । एतच्च व्याजस्तुतिपर्यायोक्तप्रभृतीनां भूयसा विभाव्यते ।

ननु च रूपकादीनां स्वलक्षणावसर एव स्वरूपं निर्णेष्यते, तत्किं प्रयोजन-मेतेषामिहोदाहरणस्य ?

सत्यमेतत्, किन्त्वेतदेव विचित्रस्य वैचित्र्यं नाम यदलौ-किकच्छायातिशययोगित्वेन भूषणोपनिबन्धः कामपि वाक्यवक्रतामुन्मीलयति ।

और जैसे [हर्षचरित के उसी प्रसङ्ग में]—

कौन से पुण्यशाली अक्षर [आपके] नाम की सेवा करते हैं ? ।६५।

यहां [इन उदाहरणों में पहिले का अभिप्राय यह है कि आप] 'कहाँ से आए हैं'? और [दूसरे का अभिप्राय यह है कि] 'इसका क्या नाम है' यह अलङ्कार्य [अर्थ] अप्रस्तुत प्रशंसा रूप अलङ्कार के सौन्दर्य से आच्छादित-सा उसकी शोभा के अन्तर्गत-सा [होकर] सहृदयों के हृदय के आह्लादकारित्व को प्राप्त हो रहा है । यह बात व्याजस्तुति तथा पर्यायोक्त आदि [अलङ्कारों] में बहुधा पाई जाती है । [अर्थात् व्याजस्तुति, पर्यायोक्त आदि अलङ्कारों में प्रतिपाद्य मुख्य अर्थ बहुधा उन अलङ्कारों की शोभा के अतिशय के अन्तर्गत तिरोहित-सा प्रतीत होता है] ।

[प्रश्न] रूपक [अप्रस्तुत प्रशंसा] आदि [अलङ्कारों] के अपने लक्षणों के अवसर पर ही उनके स्वरूप का निर्णय आगे किया जायगा तो यहाँ उनके उदाहरण देने का क्या प्रयोजन है [विना अवसर के उनके उदाहरण क्यों दे रहे हैं] ?

[उत्तर] यह ठीक है [कि रूपकादि के स्वरूप-निरूपण के अवसर पर ही उनके उदाहरण आदि आगे यथास्थान दिये जावें] किन्तु विचित्र [मार्ग] की यह ही विचित्रता है कि [उसमें] अलौकिक सौन्दर्यातिशय से युक्त अलङ्कारों की रचना वाक्य की कुछ अपूर्व-सी वक्रता को प्रकट करती है । [उसी को दिखलाने के लिए यहाँ रूपकादि के उदाहरण प्रसङ्गतः दे दिए हैं । उनका मुख्य रूप से वर्णन तो आगे ही यथास्थान दिया जायगा] ॥३७॥

---

१ हर्षचरित, १ पं० ४०-४१ ।

विचित्रमेव रूपान्तरेण लक्षयति—यदपीत्यादि । यदपि वस्तु वाच्यमनूतनोल्लेखमनभिनवत्वेनोल्लिखितं तदपि यत्र यस्मिन्नलं कामपि काष्ठां नीयते लोकोत्तरातिशयकोटिमध्यारोप्यते । कथम्—'उक्तिवैचित्र्यमात्रेण', भणितिवैदग्ध्येनैवेत्यर्थः। यथा—

अएां लडहत्तणअं अण च्चिअ काइ वत्तणच्छाया ।
सामा सामण्णपआवइणो रेह च्चिअ ण होइ ॥६६॥[1]
[अन्यल्लटभत्वमन्यैव कापि वर्तनच्छाया ।
श्यामा सामन्यप्रजापते रेखैव च न भवति ॥ इतिच्छाया ।]

[कारिका ३८]-विचित्र [मार्ग] को ही दूसरे प्रकार से 'यदपि' इत्यादि [३८वीं कारिका] से दिखलाते हैं । जो भी वासी [अन्य कवियों द्वारा पूर्व वर्णित] वस्तु; अर्थात् वाच्यार्थ, पुराने रूप से वर्णन किया गया है वह भी जहाँ जिस मार्ग में किसी [अनिर्वचनीय सौन्दर्य की] सीमा को पहुँचा दिया जाता है अर्थात् लोकोत्तर [सौन्दर्य की] चरम सीमा पर स्थापित कर दिया जाता है । कैसे कि—'केवल उक्ति की विचित्रता मात्र से' अर्थात् वर्णन-शैली के चातुर्य से । जैसे [गाथासप्तशती की ९६९वीं गाथा । यह गाथा काव्यप्रकाश पृ० ६३० तथा अलङ्कारसर्वस्व पृ० ६७ पर भी उद्धृत हुई है । मूल गाथा प्राकृत भाषा में है । उसकी संस्कृत छाया ऊपर दे दी है । अर्थ इस प्रकार है]—

उसकी सुकुमारता कुछ और ही है और उसके शरीर का सौन्दर्य भी कुछ अपूर्व [लोकोत्तर] ही है । जान पड़ता है कि वह श्यामा [सुन्दरी विशेष] सामान्य [रूप से प्रसिद्ध सृष्टि का निर्माण करने वाले] प्रजापति [ब्रह्मा] की रचना [रेखा] ही नहीं है । [अर्थात् सामान्य सृष्टि की रचना करने वाला प्रजापति ब्रह्मा इतनी अलौकिक लावण्यवती सुन्दरी की रचना नहीं कर सकता है । उसकी रचना किसी और ने ही की होगी] ।६६।

इस गाथा में 'लडहत्तणअं' 'वत्तनच्छाआ' और 'श्यामा' ये तीन शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है । वक्रोक्तिजीवित में सम्पादक महोदय ने पहिले पद की संस्कृत छाया 'अन्यल्लटभत्वं' यह दी है । काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने 'लटभत्वं' के स्थान पर 'अन्यत्सौकुमार्यं' यह संस्कृत छाया दी है । उनका कहना है कि प्राकृत भाषा में 'सुकुमार' शब्द के स्थान पर 'लडह' आदेश हो जाता है । इसलिए उसकी संस्कृत छाया 'सौकुमार्यं' ही रखनी चाहिए । 'लटभत्वं' नहीं । क्योंकि 'लटभत्वं' शब्द संस्कृत का नहीं है । यह 'सुधासागरकार' का मत है । काव्यप्रकाश की दूसरी टीका 'चन्द्रिका' के निर्माता का मत यह है कि 'लडहत्तणअ' यह 'सौकुमार्य' के अर्थ में

---

१. गाथासप्तशती सं० ९६९ ।

यथा वा—

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो[1] नर्मदायाः ।
किञ्चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता
येषामग्रे सरति कलिताकाण्डकोपो मनोभूः ॥६७॥[2]

भणितिवैचित्र्यमात्रमेवात्र काव्यार्थः । न तु नूतनोल्लेखशालि वाच्य-विजृम्भितम् । एतच्च भणितिवैचित्र्यं सहस्रप्रकारं सम्भवतीति स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयम् ॥३८॥

'देश्य' शब्द का प्रयोग किया गया है । हर अवस्था में उसका अर्थ सौकुमार्य ही होगा । दूसरा शब्द 'वर्तनच्छाया' है । इसमें वर्तन शब्द की व्युत्पत्ति 'वर्तते जीवतीति वर्तनं' यह मानकर 'वर्तन' शब्द 'शरीर' का बाचक माना गया है । तीसरा 'श्यामा' शब्द भी ध्यान देने योग्य है । जिसका स्पर्श शीतकाल में उष्ण और उष्ण काल में शीत प्रतीत हो इस प्रकार की समस्त सुन्दर अवयवों वाली षोडषवर्षदेशीया सुन्दरी के लिए 'श्यामा' शब्द का प्रयोग होता है । उसका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला ।
सर्वावयवशोभाढ्या सा श्यामा परिकीर्तिता ॥

अथवा जैसे [इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण । यह काव्य प्रकाश में पृ० ७६ पर उद्धृत हुआ है]—

हे तन्वि, हरी-हरी केलों की पंक्ति से अत्यन्त मनोहर लगने वाला, [एकान्त और कुसुमादि से सुवासित] कुञ्जों के उत्कर्ष के द्वारा रमणियों के हाव-भावों को अंकुरित कर देने वाला यह नर्मदा नदी [के किनारे] का ऊँचा प्रदेश है । और इसमें सुरत [सम्भोग] के [समय शीतल हवा के कारण] सहायक वे [शीतल, मन्द, सुगन्ध] वायु बह रही है जिनके आगे आगे बिना अवसर के भी क्रोध करता हुआ कामदेव चल रहा है ।६७।

यहाँ [इस उदाहरण में] कथन-शैली की विचित्रता ही मुख्य वाक्यार्थ है । न कि कोई नया [अभिनव उल्लेख वाला] वाच्य अर्थ का वैचित्र्य । यह वर्णन शैली की विचित्रता सहस्रों प्रकार की हो सकती है । [उसका वर्णन कर सकना सम्भव नहीं है । इसलिए पाठक] उसे स्वयं समझ लें ॥३८॥

---

१. प्रथम संस्करण में 'रमणी विभ्रमों' के स्थान पर 'हरिणी विभ्रमो' पाठ दिया है । परन्तु वह ठीक नहीं है ।

२. काव्य प्रकाश पृ० ६७१, पुञ्जराजकृत वाक्यपदीय की टीका २,२४६ ।

पुनर्वैचित्र्यमेव प्रकारान्तरेण लक्षयति-यत्रान्यथेत्यादि । यत्र यस्मिन्नन्यथाभवदन्येन प्रकारेण सत् सर्वमेव पदार्थजातं अन्यथैव प्रकारान्तरेण भाव्यते। कथम्-'यथारुचि' । स्वप्रतिभानुरूपेणोत्पद्यते। केन-प्रतिभोल्लेखमहत्वेन महाकवेः प्रतिभासोन्मेषातिशयत्वेन सत्कवेः । यत्किल वर्ण्यमानस्य वस्तुनः प्रस्तावसमुचितं किमपि सहृदयहृदयहारि रूपान्तरं निर्मिमीते कविः ।

यथा—

तापः स्वात्मनि संश्रितद्रुमलताशोषोऽध्वगैर्वर्जनं
सख्यं दुःशमया तृषा तव मरो कोऽसावनर्थो न यः ।

[कारिका ३९]-फिर[उस] विचित्र[मार्ग]को ही दूसरे प्रकार से 'यत्रान्यथा' इत्यादि [३९वीं कारिका] में वर्णन करते हैं । जहाँ जिस [मार्ग] में अन्यथा होता हुआ अर्थात् अन्य [साधारण] प्रकार से विद्यमान सब ही पदार्थ अन्यथा अर्थात् दूसरे प्रकार के [अलौकिक चमत्कार-युक्त] हो जाते हैं । कैसे कि [कवि की] अपनी रुचि के अनुसार । अपनी प्रतिभा के अनुरूप बन जाते हैं । किस [कारण] से कि—महाकवि की प्रतिभा के प्रयोग के प्रभाव से अर्थात् उत्तम कवियों के विशेष अनुभव से । क्योंकि कवि वर्ण्यमान वस्तु का, विषय के अनुरूप सहृदयों के हृदय को हरण करने वाला कुछ अपूर्व अलौकिक स्वरूप बना देता है । जैसे—

यहाँ दो बार 'प्रतिभास' शब्द का प्रयोग मूल में किया गया है । उसके स्थान पर 'प्रतिभा' शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त होता । 'प्रतिभा' और 'प्रतिभास' शब्द के प्रयोग से यहाँ चमत्कार में बहुत अन्तर हो जाता है । मूल कारिका में 'प्रतिभा' शब्द ही प्रयोग है इसलिए यहाँ व्याख्या में भी उसी 'प्रतिभा' शब्द का प्रयोग न करके जानबूझ कर 'प्रतिभास' पद का प्रयोग वृत्तिकार ने किया है । परन्तु वस्तुतः 'प्रतिभा' शब्द के मुकाबले में 'प्रतिभास' शब्द बहुत हलका पड़ जाता है अतः उसका प्रयोग उचित नहीं प्रतीत है ।

[यह श्लोक सुभाषितावली में ९४८ संख्या पर 'ईश्वर' के पुत्र 'लोटक' के नाम से दिया गया है। उसका अर्थ इस प्रकार है] हे मरुभूमे, [तुम्हारे] अपने शरीर के भीतर ताप हो रहा है, तुम्हारे आश्रित रहने वाले वृक्ष और लता सूख रही हैं, पथिक लोग तुमसे बचना चाहते हैं [तुम्हारा परित्याग करते हैं] बड़ी कठिनाई से शान्त हो सकने वाला प्यास के साथ तुम्हारी मित्रता है, इसलिए ऐसा कौन सा अनर्थ है

एकोऽर्थस्तु महानयं जललवस्वाम्यस्मयोद्गर्जिनः
सन्नह्यन्ति न यत् तवोपकृतये धाराधराः प्राकृताः ॥९८॥[1]

यथा वा—

विशति यदि नो कञ्चित् कालं किलाम्बुनिधिं विधेः
कृतिषु सकलास्वेको लोके प्रकाशकतां गतः ।
कथमितरथा धाम्नां धाता तमांसि निशाकरं
स्फुरदिदमियत्ताराचक्रं प्रकाशयति स्फुटम् ॥९९॥

अत्र जगद्गर्हितस्य मरोः कविप्रतिभोल्लिखितेन लोकोत्तरौदार्यधुराधि-

---

जो तुम्हारे भीतर नहीं है, [तुम सब अवगुणों की खान हो] । केवल एक ही यह महान् गुण तुम में है कि थोड़ी-सी जल की बूंदों के स्वामी बनकर अभिमान से गर्जन करने वाले मूर्ख मेघ तुम्हारा उपकार करने के लिए तैयार नहीं होते हैं । ९८।

यह श्लोक भी अन्योक्ति रूप है । इसका अभिप्राय यह है कि तनिक से धन को पाकर अभिमानपूर्वक गर्जन-तर्जन करने वाले दुष्ट धनिकों की सहायता प्राप्त करने की अपेक्षा स्वयं हर प्रकार का कष्ट उठा लेना अपने आश्रित जनों को दुःखित रखना और देखना आदि कहीं अधिक गौरवपूर्ण है । दुष्टों की सहायता से सुखमय जीवन का भोग गौरवास्पद नहीं है । जैसे महाराणा प्रताप ने सब प्रकार के कष्ट उठाकर भी अकबर की आधीनता स्वीकार नहीं की ।

अथवा जैसे [इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण है]—

ब्रह्मा की समस्त रचनाओं से जो अकेला संसार का प्रकाश कर रहा है यह [सूर्य] यदि [शान्ति और शक्ति प्राप्त करने के लिए] थोड़ी देर के लिए समुद्र में प्रवेश न करे तो उसके बिना वह तेज को धारण कर अन्धकार [मय जगत्] को, चन्द्रमा को, और इतने [विशाल] तारा-मण्डल को कैसे प्रकाशित कर सके । [अर्थात् लोक नेता को समय-समय पर एकान्त-सेवन द्वारा शक्ति का उपार्जन करते रहना चाहिए । तभी वह ठीक नेतृत्व कर सकता है । इसीलिए गांधी जी सप्ताह में एक दिन मौन धारण करते थे] ।९९।

यहां [इन दोनों उदाहरणों में से पहिले उदाहरण में] जगत् में अत्यन्त निन्दित मरुभूमि को कवि ने अपनी प्रतिभा के प्रयोग से लोकोत्तर उदारता के

---

१. सुभाषितावली ९४८ ।

रोपणेन तादृक् स्वरूपान्तरमुन्मीलितं यत्प्रतीयमानत्वेनोदारचरितस्य कस्यापि सत्स्वप्युचितपरिस्पन्दसुन्दरेषु पदार्थसहस्रेषु तदेव व्यपदेशपात्रतामर्हतीति तात्पर्यम् ।

अवयवार्थस्तु—दुःशमयेति 'तृड्' विशेषणेन प्रतीयमानस्य त्रैलोक्यराज्येनाप्यपरितोषः पर्यवस्यति । अध्वगैर्वर्जनमित्यौदार्येऽपि तस्य समुचितविभागासम्भवादर्थिभिर्लज्जमानैरिव स्वयमेवानभिसरणम् । 'संश्रित-द्रुमलताशोष' इति तदाश्रितानां तथाविधेऽपि सङ्कटे तदेकनिष्ठताप्रतिपत्तिः । तस्य च पूर्वोक्तस्वपरिकरपरितोषाक्षमतया तापः स्वात्मनि, न भोगलवलौल्येनेति प्रतिपद्यते । उत्तरार्धेन—तादृशे दुर्विलसितेऽपि परोपकारविषयत्वेन श्लाघास्पदत्वमुन्मीलितम् ।

अपरत्रापि विधिविहितसमुचितसमयसम्भवं सलिलनिधिमज्जनं निजोदयन्यक्कृतनिखिलस्वपरपक्षः प्रजापतिप्रणीतसकलपदार्थप्रकाशनव्रताभ्युपगम-

---

शिखर पर चढ़ाकर, उसका इस प्रकार का अपूर्व-नया स्वरूप प्रकाशित किया है जो प्रतीयमान होकर, किसी भी उदार चरित पुरुष के लिए, यथोचित सौन्दर्य से युक्त सहस्रों पदार्थों के होते हुए भी [केवल एकमात्र] वही कहने योग्य [विशेष गुण प्रतीत] होता है । यह तात्पर्य है ।

भावार्थ [अवयवार्थ] तो इस प्रकार होगा । 'तृषा' के [साथ लगे हुए] 'दुःशमया' इस विशेषण से प्रतीयमान [निर्धन व्यक्ति] का त्रैलोक्य राज्य से भी सन्तोष नहीं हो सकता है यह ध्वनित होता है । 'अध्वग' अर्थात् पथिकों के द्वारा [मरुभूमि के] परित्याग से [प्रतीयमान निर्धन व्यक्ति के] उदार होने पर भी [पर्याप्त धन के अभाव के कारण] उचित बँटवारा सम्भव न होने से [कहीं हमको न मिला इस शङ्का से] लज्जित हुए याचकों का उसके पास स्वयं न जाना प्रतीत होता है । 'आश्रित लताओं और वृक्षों के शोषण' से उस [प्रतीयमान निर्धन] के आश्रितों [पुत्र-पत्नी आदि] के केवल उसी [निर्धन] पर आश्रित होने की सूचना प्राप्त होती है और [तापः स्वात्मनि इस पद से] अपने थोड़े से भोग के लालच से नहीं अपितु पूर्वोक्त [अपने आश्रित पुत्र-पत्नी आदि] अपने परिवार के सन्तुष्ट करने में असमर्थ होने से उसके [अपने] मानसिक दुःख की प्रतीति होती है । [उसी श्लोक के] उत्तरार्ध में ऐसी दुरवस्था में भी [उसके भीतर मन में] परोपकारपरता होने से उसकी प्रशंसनीयता व्यक्त होती है ।

दूसरे श्लोक में भी विधाता के नियम के अनुसार [सायङ्काल के] समय पर होने वाले, [सूर्य के] समुद्र में डूबने [रूप कार्य] को, अपने उदय से स्वपक्ष [अर्थात् प्रकाशमान चन्द्रमा नक्षत्र आदि] और परपक्ष [अर्थात् अन्धकार] दोनों को दबा देने वाला सूर्य, मानों; ब्रह्मा के बनाये समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने के व्रत रूप

निर्वहणाय विवस्वान् स्वयमेव समाचरतीति। अन्यथा कदाचिदपि शशाङ्कतमस्तारादीनामभिव्यक्तिर्मनागपि न सम्भवतीति कविना नूतनत्वेन यदुल्लिखितं तदतीवप्रतीयमानमहत्वव्यक्तिपरत्वेन चमत्कारकारितामापद्यते।

विचित्रमेव प्रकारान्तरेणोन्मीलयति—प्रतीयमानेत्यादि [४०]। यत्र यस्मिन् प्रतीयमानता गम्यमानता काव्यार्थस्य मुख्यतया विवक्षितस्य वस्तुनः कस्यचिदनाख्येयस्य निबध्यते। कया युक्त्या—'वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां' शब्दार्थशक्तिभ्याम्, तदतिरिक्तस्य तदतिरिक्तवृत्तेरन्यस्य व्यङ्ग्यभूतस्याभिव्यक्तिः क्रियते। वृत्तिशब्दोऽत्र शब्दार्थयोस्तत्प्रकाशनसामर्थ्यमभिधत्ते। एष च 'प्रतीमान'—व्यवहारो वाक्यवक्रताव्याख्यानावसरे सुतरां समुन्मील्यते। अनन्तरोक्तमुदाहरणद्वयमत्र योजनीयम्।

स्वीकृत कार्य को पूर्ण करने के लिए [समुद्र-निमज्जन] मानों स्वयं ही करता है। अन्यथा [यदि सूर्य कुछ समय के लिए समुद्र में अस्त न हो तो] चन्द्रमा, अन्धकार और तारा आदि की कभी अभिव्यक्ति ही न हो सके यह जो अभिनव तत्त्व कवि ने यहाँ वर्णन किया है वह प्रतीयमान महत्त्वशाली पुरुष परक होने से अत्यन्त चमत्कारजनक प्रतीत होता है। [अर्थात् थोड़ी देर के लिए कार्यक्षेत्र से हटकर अपने पक्ष के और दूसरे पक्ष के लोगों को सामने आने का अवसर देने वाला महापुरुष यहाँ सूर्य के उदाहरण से प्रतीत होता है। इस रूप में अभिव्यक्त की हुई उसकी स्थिति अत्यन्त चमत्कार जनक प्रतीत होती है] ॥३९॥

[कारिका ४०]-विचित्र [मार्ग] को ही [फिर] दूसरी तरह से दिखलाते हैं। 'प्रतीयमान' इत्यादि [४० कारिका] से। जिस [मार्ग] में काव्यार्थ, अर्थात् मुख्यतया प्रतिपाद्य किसी अनिर्वचनीय पदार्थ की, प्रतीयमानता अर्थात् व्यङ्ग्यता प्रतीत होती है। किस युक्ति से—'वाच्य और वाचक की वृत्ति से' अर्थात् शब्द और अर्थ की शक्ति से अतिरिक्त अर्थात् उनसे भिन्न [व्यञ्जना आदि] में रहने वाले व्यङ्ग्यभूत [अर्थ] की अभिव्यक्ति की जाती है। यहाँ वृत्ति शब्द [का प्रयोग] 'शब्द' और 'अर्थ' में उस [व्यङ्ग्य अर्थ] के प्रकाशन करने की सामर्थ्य को प्रकाशित करता है। यह प्रतीयमान का व्यवहार वाक्य-वक्रता के व्याख्यान के अवसर पर स्वयं प्रकट हो जाता है। अभी कहे हुए ['तापः स्वात्मनि' ९८ और 'विशति यदि नो' ९९] दोनों उदाहरण यहाँ भी जोड़ लेने चाहिएँ। [अर्थात् ये दोनों उदाहरण इसके भी हो सकते हैं]।

यथा वा—

वक्त्रेन्दोर्न हरन्ति वाष्पपयसां धारा मनोज्ञां श्रियं
निःश्वासा न कदर्थयन्ति मधुरां बिम्बाधरस्य द्युतिम् ।
तस्यास्त्वद्विरहे विपक्वलवलीलावण्यसंवादिनी-
च्छाया कापि कपोलयोरनुदिनं तन्व्याः परं पुष्यति ॥१००॥[1]

अत्र त्वद्विरहवैधुर्यसंवरणकदर्थनामनुभवन्त्यास्तस्यास्तथाविधे महति गुरुसङ्कटे वर्तमानायाः, किं बहुना, वाष्पनिःश्वासमोक्षावसरोऽपि न सम्भवति । केवलं परिणतलवलीलावण्यसंवादसुभगा कापि कपोलयोः कान्तिरशक्यसंवरणा प्रतिदिनं परं परिपोषमासादयतीति वाच्यव्यतिरिक्तवृत्ति दूत्युक्तितात्पर्यं प्रतीयते । उक्तप्रकारकान्तिमत्वकथनं च कान्तकौतुकोत्कलिकाकारणतां प्रतिपद्यते ।

अथवा जैसे [उसका स्वतन्त्र अन्य उदाहरण । यह श्लोक 'धर्मकीर्ति' का है । कवीन्द्रवचनामृत में सं० २७५ पर और सदुक्तिकर्णामृतम् में सं० १४१ पर वह 'धर्मकीर्ति' के नाम से उद्धृत हुआ है । सुभाषितावली में पृ० ४७ पर भी आया है ।

[तुम्हारे वियोग में, नायिका के] आँसुओं की धारा [भी] उसके मुखचन्द्र की मनोहारिणी कान्ति को नष्ट नहीं करती है । और उसके [उष्ण] निःश्वास [भी] बिम्ब सदृश अधर की मधुर कान्ति को मलिन नहीं करते हैं । [अर्थात् वह न रोती है और न उसासें भरती है किन्तु] तुम्हारे विरह में उसके पके हुए लवली पत्र से मिलती-जुलती कपोलों की [पीली] कान्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है ।१००।

यहां तुम्हारे विरह दुःख को छिपाने की कदर्थना के कष्ट को अनुभव करते हुए उतने बड़े भारी सङ्कट में पड़े होने पर भी अधिक क्या कहा जाय, रोने और उसांसें भरने का अवसर भी उसको नहीं मिल पाता है [अर्थात् कहीं दूसरे लोग मेरे रोने या निःश्वासों को देखकर तुम्हारे वियोग से उसका सम्बन्ध न समझ लें इसलिए वह बिचारी जहाँ तक सम्भव होता है ऐसे अवसरों को बचाती ही है ।] परन्तु केवल पके हुए लवली पत्र के समान सुन्दर कपोलों की कुछ अपूर्व-सी कान्ति, जो छिपाई नहीं जा सकती है प्रतिदिन बढ़ती जाती है । [अर्थात् तुम्हारे वियोग में यद्यपि वह रोती या उसासें नहीं भरती है कि कहीं भेद न खुल जाय परन्तु उसके गाल जो प्रतिदिन पीले पड़ते जाते है दह तो छिप नहीं सकते हैं] । यह, वाच्य अर्थ से अतिरिक्त, दूति का तात्पर्य यहाँ [व्यङ्ग्यय रूप से] प्रतीत होता है । और उस प्रकार का कान्ति की सत्ता का वर्णन उसके पति के उत्कण्ठातिशय का कारण बनता है । [अर्थात् अपनी प्रियतमा की इस प्रकार की अवस्था को सुन के उसके पति अथवा प्रियतम के मन में उससे मिलने की उत्कट उत्कण्ठा उत्पन्न होने लगती है । यही उसका चमत्कार है] ॥४०॥

---

१ काव्य प्रकाश पृ० ३४२ पर उद्धृत ।

विचित्रमेव स्वरूपान्तरेण प्रतिपादयति—'स्वभाव' इत्यादि [४१]। यत्र यस्मिन् भावानां स्वभावः स्वपरिस्पन्दः सरसाकूतो रसनिर्भराभिप्रायः पदार्थानां निबध्यते निवेश्यते। कीदृशः—'केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः' लोकोत्तरेण हृदयहारिणा वैदग्ध्येनोत्तेजितः। 'भाव' शब्देनात्र सर्वपदार्थोऽभिधीयते। न रत्यादिरेव। उदाहरणम्—

क्रीडासु बालकुसुमायुधसङ्गताया
यत्तत् स्मितं न खलु तत् स्मितमात्रमेव।

आलोक्यते स्मितपटान्तरितं मृगाक्ष्या-
स्तस्याः परिस्फुरदिवापरमेव किञ्चित्॥१०१॥

अत्र 'न खलु तत् स्मितमात्रमेवेति' प्रथमार्धेऽभिलाषसुभगं सरसाभिप्रायत्वमुक्तम्। अपरार्धे तु हसितांशुकतिरोहितमन्यदेव किमपि परिस्फुरदालोक्यते इति कमनीयवैचित्र्यविच्छित्तिः।

[कारिका ४१]-विचित्र [मार्ग] को ही 'स्वभाव' इत्यादि [४१वीं कारिका में] दूसरे रूप से प्रतिपादन करते हैं। जहाँ 'जिस मार्ग में पदार्थों का स्वभाव अर्थात् अपना स्वरूप, सरस--अभिप्राययुक्त अर्थात् रसमय, रसप्रधान, रूप से वर्णित किया जाता है [काव्य में] समाविष्ट किया जाता है [वह विचित्र मार्ग है]। 'कैसा—'किसी सुन्दर विचित्रता से युक्त' अर्थात् हृदयहारी किसी लोकोत्तर वैदग्ध्य से उत्तेजित। 'भाव' शब्द यहाँ समस्त पदार्थों का बोधक है। केवल रत्यादि का ही नहीं। उदाहरण [जैसे]—

[वयः सन्धि के अवसर पर] नवीन काम विकारों से युक्त [उस] तरुणी का [मुझको देखकर] वह जो मुस्कराना था वह केवल मुस्कराना-मात्र ही नहीं था। उस मुस्कराहट के परदे के पीछे छिपा हुआ उस मृगनयनी का कुछ और ही भाव झलकता हुआ-सा दिखलाई देता था।१०१।

यहाँ पूर्वार्ध में वह केवल मुस्कराहट मात्र नहीं थी इससे [सम्भोग के] अभिलाष से सुन्दर 'सरस' अभिप्राय सूचित होता है। और उत्तरार्ध में तो मुस्कराहट के परदे के पीछे छिपा हुआ कुछ और ही [सम्भोगाभिलाष] झलकता हुआ दिखलाई देता है इस [कथन] से बड़े मनोहर सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हो रही है॥४१॥

इदानीं विचित्रमेवोपसंहरति—'विचित्रो यत्र' [४२] इत्यादि। एवंविधो विचित्रो मार्गो यत्र यस्मिन् 'वक्रोक्तिवैचित्र्यं' अलङ्कारविचित्रभावो 'जीवितायते' जीवितवदाचरति। वैचित्र्यादेव विचित्रे 'विचित्र' शब्दः प्रवर्तते। तस्मात् तदेव तस्य जीवितम्। किं तद्वैचित्र्यं नाम इत्याह-'परिस्फुरति यस्यान्तः सा काप्यतिशयाभिधा'। यस्यान्तः स्वरूपानुप्रवेशेन सा काप्यलौकिकातिशयोक्तिः परिस्फुरति भ्राजते।

यथा—

यत्सेनारजसामुदञ्चति चये द्वाभ्यां दवीयोऽन्तरान्
पाणिभ्यां युगपद्विलोचनपुटानष्टाक्षमो रक्षितुम्।
एकैकं दलमुन्नमय्य गमयन् वासाम्बुजं कोशतां
धाता संवरणाकुलश्चिरमभूत् स्वाध्यायबद्धाननः ॥१०२॥

[कारिका ४२]-अब 'विचित्रो यत्र' इत्यादि [४२वीं कारिका में] विचित्र [मार्ग] का ही उपसंहार करते हैं। इस प्रकार का 'विचित्र मार्ग' है जहाँ अर्थात् जिसमें वक्रोक्ति [अलङ्कार] की विचित्रता, अर्थात् अलङ्कार का चमत्कार जीवन के समान है, अर्थात् प्राण के समान जीवनाधायक है। [इस प्रकार का] वैचित्र्य होने से ही [इस मार्ग के लिए] 'विचित्र' शब्द का प्रयोग होता है। इसलिए वह [वैचित्र्य] ही उस [विचित्र मार्ग] का प्राण स्वरूप है। वह वैचित्र्य क्या पदार्थ है यह कहते हैं। जिसके भीतर वह कुछ अपूर्व अभिधा [अर्थबोधकत्व शक्ति] परिस्फुरित होती है। जिसके भीतर अर्थात् स्वरूपभूत वह कुछ अपूर्व अतिशयोक्ति परिस्फुरित अर्थात् शोभित होती है। जैसे—

[यह श्लोक बालरामायण के सप्तमाङ्क का ६६वां श्लोक है] जिसकी सेना की धूलि समूह के उठने पर [वेदाध्ययन में तत्पर चतुर्मुख ब्रह्मा अपने] दो हाथों से [चारों मुखों में चारों ओर होने के कारण] दूर दूर स्थित आठों आँखों को [उड़ती हुई धूल से] बचाने में असमर्थ होकर [जिस अष्टदल कमल पर वे बैठे थे उसके] एक-एक दल को [एक-एक आँख को ढँकने के लिए] उठाकर अपने बैठने के [अष्टदल] कमल को बन्द करते हुए ब्रह्मा जी बहुत काल तक स्वाध्याय [वेद पाठ] में चुप रहे। [सेना की उड़ती हुई धूल से अपनी आँखों की रक्षा करने के लिए एक-एक कमल दल से एक-एक आँख को ढँककर कमल में बन्द हो जाने से बहुत समय तक चुप बैठे रहे] ॥१०२॥

एवं वैचित्र्यं सम्भावनानुमानप्रवृत्तायाः प्रतीयमानत्वमुत्प्रेक्षायाः । तच्च धाराधिरोहणरमणीयतयाऽतिशयोक्तिपरिस्पन्दस्यन्दि संदृश्यते ॥४३॥

तदेवं वैचित्र्यं व्याख्याय तस्यैव गुणान् व्याचष्टे—

वैदग्ध्यस्यन्दि माधुर्यं पदानामत्र बध्यते ।
याति यत् त्यक्तशैथिल्यं बन्धबन्धुरताङ्गताम् ॥४४॥

अत्रास्मिन् माधुर्यं वैदग्ध्यस्यन्दि वैचित्र्यसमर्पकं पदानां बध्यते वाक्यैकदेशानां निवेश्यते । यत् त्यक्तशैथिल्यमुज्झितकोमलभावं भवद् बन्धबन्धुरताङ्गतां याति सन्निवेशसौन्दर्योपकरणतां गच्छति । यथा—

'किं तारुण्यतरोः' इत्यत्र पूर्वार्द्धे ॥१०३॥

[इस श्लोक में स्तुति किए जाने वाले राजा की विजय-वाहिनी के प्रस्थान से उत्पन्न धूलि-पटल से अपनी आठों आँखों की रक्षा करने के लिए ही मानो चतुर्मुख ब्रह्मा ने अपने कमलासन की आठों पंखुड़ियों को क्रमशः बन्द कर दिया हो] । इस प्रकार की सम्भावना के अनुमान रूप से प्रवृत्त उत्प्रेक्षा की प्रतीयमनाता [व्यङ्ग्यता] रूप ही 'वैचित्र्य' है । और वह [अतिशयोक्ति के कारण ही] रमणीयता के उत्कर्ष के चरम सीमा पर पहुँच जाने से अतिशयोक्ति के प्रवाह से अत्यन्त सुन्दर दिखलाई देता है ।४३।

सुकमार-मार्ग में माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य नामक चार गुणों का वर्णन किया था । वहां उनके लक्षण अन्य प्रकार से किए थे । उन्ही चारों गुणों का विचित्र-मार्गोपयोगी वर्णन आगे करते हैं ।

इस प्रकार 'विचित्र' मार्ग की व्याख्या करके अब उसके गुणों को कहते हैं—

इस [विचित्र मार्ग] में पदों के वैदग्ध्य-प्रदर्शक 'माधुर्य' की रचना की जाती है जो शैथिल्य को छोड़कर [बन्ध] रचना के सौन्दर्य का वर्द्धक होता है ।४४।

यहाँ अर्थात् इस [विचित्र] मार्ग में वैदग्ध्य का प्रदर्शक अर्थात् वैचित्र्य का सम्पादक माधुर्य पदों में अर्थात् वाक्य के एक देश [अवयव रूप पदों] में सन्निविष्ट किया जाता है । जो शैथिल्य अर्थात् कोमल भाव को छोड़कर रचना की सुन्दरता का अङ्ग बनता है । अर्थात् रचना के सौन्दर्य का उपकरण बन जाता है । जैसे—

[उ० सं० ९२ पर पूर्वोदाहृत] 'किं तारुण्यतरोः' इत्यादि के पूर्वार्द्ध में ।१०३।४४।

एवं माधुर्यमभिधाय प्रसादमभिधत्ते—

असमस्तपदन्यासः प्रसिद्धः कविवर्त्मनि।
किञ्चिदोजः स्पृशन् प्रायः प्रसादोऽप्यत्र दृश्यते ॥४५॥

असमस्तानां समासरहितानां पदानां न्यासो निबन्धः कविवर्त्मनि विपश्चिन्मार्गे यः प्रसिद्धः प्रख्यातः। सोऽप्यस्मिन् विचित्राख्ये प्रसादाभिधानो गुणः किञ्चित् कियन्मात्रं ओजः स्पृशन्, उत्तानतया व्यवस्थितः प्रायो दृश्यते प्राचुर्येण लक्ष्यते। बन्धसौन्दर्यनिबन्धनत्वात् तथाविधस्यौजसः समासवती वृत्तिः 'ओजः' शब्देन चिरन्तनैरुच्यते। तदयमत्र परमार्थः, पूर्वस्मिन् प्रसाद लक्षणे सति ओजः स्पर्शमात्रमिह विधीयते। यथा—

अपाङ्गगततारकाः स्तिमितपक्ष्मपालीभृतः
स्फुरत्सुभगकान्तयः स्मितसमुद्गतिद्योतिताः।
विलासभरमन्थरास्तरलकल्पितैकभ्रुवो
जयन्ति रमणेऽर्पिताः समदसुन्दरी दृष्टयः ॥१०४॥४५॥

इस प्रकार 'माधुर्य' का कथन करके अब 'प्रसाद' [गुण] को कहते हैं—

समास युक्त पदों से रहित और ओज का तनिक-सा स्पर्श करने वाला कवियों के मार्ग में प्रसिद्ध 'प्रसाद' गुण भी प्रायः इस [विचित्रमार्ग] में देखा जाता है।४४।

असमस्त अर्थात् समास रहित पदों का न्यास अर्थात् रचना। कविमार्ग में अर्थात् विद्वानों के सिद्धान्त में, मार्ग में, जो प्रसिद्ध अर्थात् प्रख्यात है वह 'प्रसाद' नामक गुण भी तनिक-सा 'ओज' का स्पर्श करता हुआ अर्थात् [ऊपर की ओर] ओज की ओर बढा हुआ जो 'प्रसाद' गुण है वह भी इह विचित्र नामक मार्ग में प्रायः दिखलाई देता है अर्थात् अधिकतर पाया जाता है। [उसके] रचना में सौन्दर्य का उत्पादक होने से ['किञ्चिदोजः स्पृशन्' में प्रसाद को जिस ओज का स्पर्श करने वाला बतलाया है] उस ओज की समास युक्त वृत्ति यहाँ प्राचीन लोगों ने 'ओज' शब्द से कही है। इसका यहां यह अभिप्राय हुआ कि [३१वीं कारिका में कहे हुए] पूर्वोक्त प्रसाद गुण के लक्षण के [होने पर ओज अर्थात्] समासवती वृत्ति के संस्पर्शमात्र का यहाँ [विचित्र मार्ग में] विधान किया गया है। [प्रचुर मात्रा में समास के प्रयोग का विधान नहीं है] जैसे—

मदमाती सुन्दरियों की अपने प्रियतम के प्रति समर्पित, नेत्र के किनारे पर स्थित पुतली से युक्त [कटाक्ष रूप], अपलक और सुन्दर कान्ति से सुशोभित, मुस्कराहट के आ जाने से चमकती हुई, हाव-भाव के आधिक्य से मन्थर, और एक ओर की भौंह को चञ्चल करने वाली दृष्टि सर्वोत्कर्ष युक्त है।१०४।४५।

प्रसादमेव प्रकारान्तरेण प्रकटयति—

गमकानि निबन्ध्यन्ते वाक्ये वाक्यान्तराण्यपि ।

पदानीवात्र कोऽप्येष प्रसादस्यापरः क्रमः ॥४६॥

अत्रास्मिन् विचित्रे यद्वाक्यं पदसमुदायस्तस्मिन् गमकानि समर्पकाण्यन्यानि वाक्यान्तराणि निबध्यन्ते निवेश्यन्ते । कथम्, पदानीव पदवत् परस्परान्वितानीत्यर्थः । एष कोऽप्यपूर्वः प्रसादस्यापरः क्रमः बन्धच्छायाप्रकारः ।

यथा—

'नामाप्यन्यतरोः' इति ॥ १०५ ॥४६॥[1]

प्रसादमभिधाय लावण्यं लक्षयति—

अत्रालुप्तविसर्गान्तैः पदैः प्रोतैः परस्परम् ।

ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च लावण्यमतिरिच्यते ॥४७॥

प्रसाद [गुण] को ही दूसरी तरह से दिखलाते हैं—

यहाँ [विचित्र मार्ग में] वाक्य में [परस्पर अन्वित] पदों के समान [परस्पर अन्वित रूप से अन्य सुन्दर व्यङ्ग्य अर्थ] के व्यञ्जक अन्य वाक्य भी ग्रथित किए जाते हैं वह [भी] प्रसाद [गुण] का कोई [अपूर्व सौन्दर्यशाली] दूसरा ही प्रकार है ।४६।

यहाँ इस विचित्र मार्ग में जो वाक्य अर्थात् पद समुदाय है उसमें व्यञ्जक [अलौकिक सौन्दर्य के] समर्पक अन्य वाक्य जोड़ दिए अर्थात् सन्निविष्ट कर दिए जाते हैं । कैसे—पदों के समान, पदों के तुल्य परस्पर अन्वित रूप से यह अभिप्राय है । यह प्रसाद [गुण] का कोई अपूर्व दूसरा क्रम है अर्थात् रचना की दूसरी शैली है । जैसे—

[पूर्वोदाहृत ९१वें उदाहरण] नामाप्यन्यतरोः इत्यादि में ॥१०५॥४६॥

'प्रसाद' को कहकर [विचित्र मार्ग के उपयोगी] 'लावण्य' को कहते हैं—

यहाँ [विचित्र मार्ग में] एक दूसरे से मिले हुए, जिनके अन्त के विसर्गों का लोप नहीं हुआ है और संयोग से पूर्व ह्रस्व [लघु] पदों से 'लावण्य' की वृद्धि हो जाती है । [अर्थात् विचित्र मार्ग में इस प्रकार के पदों का प्रयोग लावण्य के अतिशय का जनक होता है] ।४७।

---

१. उदाहरण सं० ९१ पर उद्धृत ।

अत्रास्मिन्नेवंविधैः पदैर्लावण्यमतिरिच्यते परिपोषं प्राप्नोति। कीदृशैः—परस्परमन्योन्यं प्रोतैः संश्लेषं नीतैः। अन्यच्च कीदृशैः—अलुप्तविसर्गान्तैः, अलुप्तविसर्गाः श्रूयमाणविसर्जनीया अन्ता येषां तानि तथोक्तानि तैः। ह्रस्वैश्च लघुभिः, संयोगेभ्यः पूर्वैः। अतिरिच्यते इति सम्बन्धः। तदिदमत्र तात्पर्यम् पूर्वोक्तलक्षणं लावण्यं विद्यमानमनेनातिरिक्ततां नीयते।

यथा—

श्वासोत्कम्पतरङ्गिणि स्तनतटे धौताञ्जनश्यामलाः
कीर्यन्ते कणशः कृशाङ्गि किममी वाष्पाम्भसां बिन्दवः।
किञ्चाकुञ्चितकण्ठरोधकुटिलाः कर्णामृतस्यन्दिनो
हुङ्काराः कलपञ्चमप्रणयिनस्त्रुट्यन्ति निर्यान्ति च ॥१०६॥[1]

यहां इस [विचित्र मार्ग] में इस प्रकार के पदों से लावण्य बढ़ता है अर्थात् परिपुष्ट होता है। कैसे [पदों से] कि, एक दूसरे साथ मिले हुए संश्लेष को प्राप्त हुए। और कैसे [पदों] से कि-अलुप्त विसर्गान्त अर्थात् जिनके अन्त के विसर्ग लुप्त नहीं हुए हैं, अर्थात् श्रूयमाण हैं वह वैसे [अलुप्त विसर्गान्त] हुए, उनसे। और ह्रस्व अर्थात् लघुओं से, संयोग के पूर्ववर्ती [लघु अक्षर वाले पदों] से। [लावण्य] वृद्धि को प्राप्त होता है। यह [श्लोक के पदों का अन्वय रूप] सम्बन्ध है। यहाँ इसका यह तात्पर्य हुआ कि [सुकुमार मार्ग के निरूपण में ३२वीं कारिका में जिस लावण्य गुण का लक्षण किया है वह] पूर्वोक्त लक्षण वाला विद्यमान लावण्य [विचित्र मार्ग में] इस [प्रकार के पदों के योग] से बढ़ जाता है। जैसे—

यह श्लोक कवीन्द्रवचनामृत में सं० ४५० पर दिया गया है। लेखक का पता नहीं है। वक्रोक्तिजीवित में इसके पूर्व उदाहरण संख्या ४६ पर भी इस श्लोक की प्रथम पंक्ति को प्रतीक रूप में उद्धृत किया जा चुका है। उसमें किसी रोती हुई सुन्दरी का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

हे कृशाङ्गि [तुम्हारे] श्वास के से आवेग से हिलते हुए स्तनों के ऊपर [आँखों के] धुले हुए कज्जल [के मिल जाने] से काले आँसुओं की बूंदों के कण क्यों बिखर रहे हैं? और संकुचित [दबाए हुए] कण्ठ के अवरोध से अस्पष्ट [कुटिल] तथा [कोकिल के] सुन्दर पञ्चम स्वर के समान कानों में अमृत घोलने वाली [हुङ्कार] हिचकियाँ क्यों [बार-बार] निकलती और रुक जाती हैं ॥१०६॥

---

१. कवीन्द्रवचनामृत ४५०।

यथा वा—

एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामोदरापाण्डुर-
प्रान्तं हन्त पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्शक्षमं लक्ष्यते ।
तत् पल्लीपतिपुत्रि कुञ्जरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना-
दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रांशुकैर्मा पिधाः ॥१०७॥[1]

इसमें श्यामलाः, कणाशः, बिन्दवः, कुटिलाः, हुङ्काराः और प्रणयिनः आदि ये अलुप्त विसर्गान्त पद हैं। प्रथम चरण में 'कम्प' में 'म्प' के संयोग के पूर्व 'क' 'तरङ्गित' में 'ङ्ग' के संयोग के पूर्व 'र', 'स्तन' में 'स्त' के संयोग के पूर्व 'णि' तीसरे चरण में 'किञ्च' में 'ञ्च' के संयोग के पूर्व 'कि' तथा कण्ठ' में 'ण्ठ' के संयोग के पूर्व 'क' तथा 'कर्ण' में 'र्ण' के संयोग के पूर्व 'क' इत्यादि संयोग के पूर्व ह्रस्व वर्ण पाए जाते हैं। और 'श्वासोत्कम्पतरङ्गिणि' तथा 'धौञ्जनश्यामलाः' आदि श्लोक के सारे पद एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसलिए इन सबसे यहाँ 'विचित्र-मार्ग' के 'लावण्य' की अभिवृद्धि हो रही है।

अथवा जैसे—

यह श्लोक सदुक्तिकर्णामृतम् में सं० ३७६ पर बल्लभस्य' नाम से दिया हुआ है। काव्यप्रकाश पृ० २६६ पर भी उद्धृत हुआ है। अर्थ इस प्रकार है—

हे पल्लीपति की पुत्रि [शबरों की छोटी-सी बस्ती पल्ली कहलाती है उसके मुखिया की पुत्रि] तुम्हारा यह [उन्नत होने के कारण स्पष्ट दिखाई देने वाला] थोड़े-थोड़े पके हुए तिन्दुक फल के समान बीच में श्याम वर्ण और चारों ओर पीला स्तन-युगल, शबर युवक के कर मर्दन के योग्य दिखलाई दे रहा है। इसलिए [हे पल्लीपति पुत्रि] अपने कुम्भस्थल के अभय दान की भिक्षा के लिए दीन होकर हाथियों का समूह तुमसे यह याचना कर रहा है कि अपने इस कुचयुगल को पत्रों से आच्छादित मत करो। [खुला रहने दो। उसके खुले रहने से हमारे कुम्भस्थलों की रक्षा हो सकती है। तुम्हारे-पल्लीपतिपुत्रि के-विशाल स्तनों के खुले रहने के वस्त्रों से हाथियों के कुम्भ की रक्षा कैसे हो सकेगी इसका उपपादन कई प्रकार से किया जा सकता है। पहिला प्रकार यह है कि तुम्हारे स्तनों के समान हमारे कुम्भस्थल हैं इसलिए शायद इस साम्य के कारण शबर युवक दया के कारण कुम्भस्थल का भेदन न करें अथवा उसमें आसक्त होकर हमारे शिकार का उनको कोई ध्यान ही न रहे। आदि] ॥१०७॥

१. सदुक्तिकर्णामृतम् २,३७६ (वल्लभस्य)।

यथा वा—

हंसानां निनदेषु । इति ॥१०८॥४७॥[1]

एवं लावण्यमभिधायाभिजात्यमभिधीयते—

यन्नातिकोमलच्छायं नातिकाठिन्यमुद्वहत् ।
आभिजात्यं मनोहारि तदत्र प्रौढ़िनिर्मितम् ॥४८॥

अत्रास्मिन् आभिजात्यं यन्नातिकोमलच्छायं नात्यन्तमसृणकान्ति नातिकाठिन्यमुद्वहन् नाति कठोरतां धारयत् तत् प्रौढ़िनिर्मितं सकलकविकौशलसम्पादितं सन्मनोहारि हृदयरञ्जकं भवतीत्यर्थः ।

यथा—

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला
परिमलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली ।
सुतनु कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव
स्मरनरपतिकेलीयौवराज्याभिषेकम् ॥१०९॥[2]

अथवा जैसे [इसी प्रकार का तीसरा उदाहरण]—

[उदा० सं० ७३ पर पूर्वोदाहृत] 'हंसानां निनदेषु' । इत्यादि ॥१०८॥४७॥

इस प्रकार लावण्य का कथन करके अब आभिजात्य [गुण] का निरूपण करते हैं—

यहाँ [इस विचित्र मार्ग में] जो न तो अधिक कोमलता की छाया से युक्त हो न अत्यन्त कठिन हो ऐसे प्रौढ़ि-निर्मित [बन्ध के गुण] को आभिजात्य [गुण] कहते हैं ।४८।

यहाँ इस [विचित्र मार्ग] में उसको 'आभिजात्य' [नामक गुण] कहते हैं जो न तो अत्यन्त कोमलच्छाया वाला अर्थात् सुकुमार कान्ति वाला हो और न अत्यन्त कठोरता को धारण करने वाला हो । वह प्रौढ़ि [विदग्धता] से रचा हुआ अर्थात् कवि की समस्त शक्ति से सम्पादित किया हुआ होकर मनोहारी अर्थात् हृदयाह्लादक होता है । यह भावार्थ है । जैसे—

[यह श्लोक काव्य प्रकाश पृ० ३४२ पर भी उद्धृत हुआ है । हथेली पर गाल रख कर अपने प्रियतम की चिन्ता में निमग्न नायिका को देखकर उसकी सखी की उसके प्रति उक्ति है] करतल [हथेली] रूप शैय्या के ऊपर शयन करने वाली [हथेली के साथ] मिलन के कारण पीलेपन से रहित [हथेली की रगड़ से लाल पड़ी हुई] यह कपोलस्थली कहो किस [सौभाग्यशाली] के स्मर रूप नरपति की [चुम्बनादि] लीलाओं के युवराज पद पर अभिषेक को सूचित कर रही है ।१०९।

---

१ उदा० सं० ७३ पर पूर्व उद्धृत । २. काव्यप्रकाश पृ० ३४२ पर उद्धृत ।

एवं सुकुमारविहितानामेव गुणानां विचित्रे कश्चिदतिशयः सम्पाद्यत इति बोद्धव्यम् ।

आभिजात्यप्रभृतयः पूर्वमार्गोदिता गुणाः ।
अत्रातिशयमायान्ति जनिताहार्यसम्पदः ॥११०॥

इत्यन्तरश्लोकः ॥४८॥

एवं विचित्रमभिधाय मध्यममुपक्रमते—

वैचित्र्यं सौकुर्यमाञ्च यत्र सङ्कीर्णतां गते ।
भ्राजेते सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी ॥४९॥
माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम् ।
यत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम् ॥५०॥

इस प्रकार सुकुमार [मार्ग] में कहे हुए [माधुर्य, प्रसाद, आभिजात्य और लावण्य चारों] गुणों का ही विचित्र [मार्ग] में [इस प्रकार के वर्णों के प्रयोग से] कुछ अपूर्व अतिशय सम्पादित हो जाता है यह समझना चाहिए ।

पूर्व [अर्थात् सुकुमार] मार्ग में कहे हुए [१ माधुर्य, २ प्रसाद, ३ लावण्य और ४-] अभिजात्य आदि गुण [ही] आहार्य [अर्थात् कवि की व्युत्पत्ति आदि से उत्पन्न लोकोत्तर चमत्कार रूप]सम्पत्ति को प्राप्त कर अतिशय को प्राप्त हो जाते हैं ।

यह अन्तरश्लोक है ॥४८॥

इस प्रकार विचित्र [मार्ग] का वर्णन करके अब [तीसरे] मध्यम [मार्ग] का प्रतिपादन करते हैं—

जहां [जिस मार्ग में] सहज [अर्थात् स्वाभाविक] और आहार्य [अर्थात् कवि की व्युत्पत्ति आदि से जन्य] शोभा के अतिशय से युक्त पूर्वोक्त] विचित्र तथा सुकुमार [दोनों मार्ग] परस्पर मिश्रित [सङ्कीर्ण] होकर शोभित होते हैं । [वह मध्यम मार्ग है] ॥४९॥

जहां [जिस मार्ग में] माधुर्य आदि [पूर्वोक्त] गुण समूह [न अति कोमल और न अति कठोर रूप] मध्यम वृत्ति का अवलम्बन कर, रचना के सौन्दर्यातिशय को पुष्ट करता है [उसको मध्यम मार्ग कहते हैं] ॥५०॥

मार्गोऽसौ मध्यमो नाम नानारुचिमनोहरः ।
स्पर्धया यत्र वर्तन्ते मार्गद्वितयसम्पदः ॥५१॥
अत्रारोचकिनः केचिच्छायावैचित्र्यरञ्जके ।
विदग्धनेपथ्यविधौ भुजङ्गा इव सादराः ॥५२॥

मार्गोऽसौ मध्यमो नाम मध्यमाभिधानोऽसौ पन्थाः । कीदृशः— नानाविधा रुचयः प्रतिभासा येषां ते तथोक्तास्तेषां सुकुमारविचित्रमध्यमव्यसनिनां, सर्वेषामेव मनोहरो हृदयहारी । यस्मिन् स्पर्धया मार्गद्वितयसम्पदः सुकुमारविचित्रशोभाः साम्येन वर्तन्ते व्यवतिष्ठन्ते न न्यूनातिरिक्तत्वेन । यत्र वैचित्र्यं विचित्रत्वं सौकुमार्यं सुकुमारत्वं सङ्कीर्णतां गते तस्मिन् मिश्रतां प्राप्ते सती

जहाँ [जिस मार्ग में सुकुमार तथा विचित्र] दोनों मार्गों का सौन्दर्य स्पर्धापूर्वक विद्यमान होता है और [नाना] विभिन्न प्रकार की रुचियों वाले सहृदयों के लिए मनोहर होता है [उसको मध्यम मार्ग कहते हैं] ॥५१॥

यहाँ [इस काव्य मार्ग में] सुन्दर वेष-भूषा के रसिक [भुजङ्गा-इव] नागरिकों के समान कोई-कोई सौन्दर्यानुसन्धान के व्यसनी [अरोचकी, सहृदय कवि-विशेष सुकुमार तथा विचित्र द्विविध मार्गों की] छाया के वैचित्र्य से मनोरञ्जक इस [मध्यम मार्ग] में आदरवान् होते हैं ॥५२॥

जैसे रसिक नागरिक जनों को नाना रंग के विचित्र वस्त्रादि की वेष-भूषा के प्रति विशेष आग्रह होता है इसी प्रकार 'अरोचकी' अर्थात् जिनको साधारण वस्तु पसन्द ही नहीं आती है ऐसे सौन्दर्य के विशेष प्रेमी कुछ कविगण अन्य मार्गों की अपेक्षा इस मध्यम मार्ग को अधिक पसन्द करते हैं ।

वह 'मध्यम' नामक मार्ग है अर्थात् उस मार्ग को मध्यम मार्ग कहा जाता है । कैसा कि, जो नाना प्रकार की रुचि [अर्थात् सौन्दर्य विषयक ज्ञान] जिनका है उन सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग के प्रेमी सभी के मन को हरण करने वाला अर्थात् हृदयहारी । जिसमें [सुकुमार तथा विचित्र] दोनों मार्गों की सम्पत्ति अर्थात् सुकुमार और विचित्र शोभा, समान रूप से स्थित होती है । [किसी भी मार्ग की शोभा उसमें] न कम और न अधिक होती है । जहाँ [जिस मार्ग में] वैचित्र्य अर्थात् विचित्रता और सौकुमार्य अर्थात् सुकुमारता सङ्कीर्ण हो गई है अर्थात्

भ्राजेते शोभेते । कीदृशे—सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी, शक्तिव्युत्पत्ति-सम्भवो यः शोभातिशयः कान्त्युत्कर्षस्तेन शालेते श्लाघेते ये ते तथोक्ते ।

माधुर्येत्यादि । यत्र च माधुर्यादिगुणग्रामो माधुर्यप्रभृतिगुणसमूहो मध्यमामुभयच्छायच्छुरितां वृत्तिं स्वस्पन्दगतिमाश्रित्य कामप्यपूर्वां बन्धच्छायातिरिक्ततां सन्निवेशकान्त्यधिकतां पुष्णाति पुष्यतीत्यर्थः ।

तत्र गुणानामुदाहरणानि । तत्र माधुर्यस्य यथा—

वेलानिलैर्मृदुभिराकुलितालकान्ताः
गायन्ति यस्य चरितान्यपरान्तकान्ताः ।
लीलानताः समवलम्ब्य लतास्तरूणां
हिन्तालमालिषु तटेषु महार्णवस्य ॥१११॥[1]

मिल गई हैं । उसमें मिश्रित होकर शोभित होती हैं । कैसे—स्वाभाविक [प्रतिभा सम्पाद्य] तथा आहार्य [व्युत्पत्ति सम्पाद्य] शोभातिशय से युक्त, अर्थात् [कवि की] शक्ति [प्रतिभा] और व्युत्पत्ति [ज्ञानादि] से उत्पन्न जो शोभा का अतिशय अर्थात् काव्य का उत्कर्ष, उससे शोभित अथवा प्रशंसित [सौकुमार्य और वैचित्र्य] वे उस प्रकार के अर्थात् 'सहजाहार्यशोभातिशयशालिनी' हुए । [वह जिस मार्ग में पाए जायँ उसको मध्यम मार्ग कहते हैं] ।४९।

और जहाँ [जिस मार्ग में] माधुर्य आदि गुणों का समूह, मध्यम अर्थात् उन दोनों की सौन्दर्य से युक्त वृत्ति अर्थात् अपनी स्वभाव-गति को धारण कर रचना में सन्निवेश के किसी अपूर्व शोभातिशय को उत्पन्न या पुष्ट करता है [वह मध्यम मार्ग कहलाता है] ।५१।

उस [मध्यम मार्ग] में गुणों [माधुर्य आदि] के उदाहरण [दिखलाते हैं] । उनमें से [शैथिल्य-रहित सुन्दर रचना रूप] माधुर्य का [उदाहरण] जैसे—

[यह श्लोक पादताड़ितक भाण का ५५वाँ श्लोक है । अर्थ इस प्रकार है]—

पेड़ों [पर फैली हुई] की लताओं को पकड़कर नज़ाकत से झुकी हुई, हिन्ताल [वृक्ष विशेष] की पंक्तियों से युक्त समु के किनारों पर, सागर तट की [शीतल] मन्द वायु से तरलित केशों वाली समुद्रपार की स्त्रियाँ जिसके चरित का गान करती हैं ।१११।

---

१. पादताडितक-भाण, श्लोक ५५ ।

प्रसादस्य यथा—

तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन इत्यादि ॥११२॥

लावण्यस्य यथा—

सङ्क्रान्तांगुलिपर्वसूचितकरस्वापा कपोलस्थली
नेत्रे निर्भरमुक्तवाष्पकलुषे निःश्वासतान्तोऽधरः ।
बद्धोद्भेदविसंष्ठुलालकलता निर्वेदशून्यं मनः
कष्टं दुर्नयवेदिभिः कुसचिवैर्वत्सा दृढं खेद्यते ॥११३॥

अभिजात्यस्य यथा—

आलम्व्य लम्बाः सरसाग्रवल्लीः
पिबन्ति यस्य स्तनभारनम्राः ।
स्रोतश्च्युतं शीकरकूणिताक्ष्यो
मन्दाकिनीनिर्भरमश्वमुख्यः ॥११४॥

[यह मध्यम मार्गोचित माधुर्य गुण का उदाहरण है ।] प्रसाद [गुण] का जैसे—

[उदाहरण सं० २३ पर पूर्वोदाहृत] 'तद्वक्त्रेन्दु विलोकनेन' इत्यादि ।११२।

लावण्य का [मध्यममार्गोचित उदाहरण] जैसे—

[यह श्लोक तापसवत्सराज के तृतीयाङ्क का ७६वाँ श्लोक है]

गालों पर बने हुए अँगुलियों के निशानों से हाथ पर गालों के रखने की [चिन्ता मुद्रा] सूचना होती है [रोने के कारण] आँखें आँसुओं के प्रवाह से मलिन हो रही हैं, [उष्ण एवं दीर्घ] निःश्वासों से अधर सूख रहा है, वेणी के खुल जाने से बाल बिखर रहे हैं और मन दुःख के कारण शून्य-सा हो रहा है, दुःख की बात है कि दुर्नय को [ही] जानने वाले दुष्ट मन्त्री [अपनी दुर्नीति के कारण] मेरी पुत्री को [उसके अभीष्ट राजा उदयन के साथ विवाह न करने देकर] अत्यन्त दुःखी कर रहे हैं ॥११३॥

आभिजात्य [गुण] का [मध्यम मार्गोचित उदाहरण] जैसे—

स्तनों के भार से झुकी हुई, जिसकी हरी-हरी लम्बी आगे की लता को पकड़ कर जलकणों [के गिरने] से अर्धमुकुलित नेत्रों वाली अश्व मुखियाँ [अश्वमुख नामक किन्नर जाति विशेष की स्त्रियाँ] जिस [पर्वत] के स्रोत से गिरने वाले गङ्गा के निर्झर के जल को पीती हैं ॥११४॥

एवं मध्यमं व्याख्याय तमेवोपसंहरति-'अत्रेति'। अत्रैतस्मिन् केचित् कतिपये, सादरास्तदाश्रयेण काव्यानि कुर्वन्ति। यस्मात् अरोचकिनः कमनीय-वस्तुव्यसनिनः। कीदृशे चास्मिन्—'छायावैचित्र्यरञ्जके' कान्तिविचित्रभावाह्लादके। कथम् 'विदग्धनेपथ्यविधौ भुजङ्गा इव', अग्राम्याकल्पकल्पने नागरा यथा। सोऽपि छायावैचित्र्यरञ्जक एव।

अत्र गुणोदाहरणानि परिमितत्वात् प्रदर्शितानि, प्रतिपदं पुनश्छाया-वैचित्र्यं सहृदयैः स्वयमेवानुसर्तव्यम्। अनुसरणदिक् प्रदर्शनं पुनः क्रियते। यथा—मातृगुप्त-मायुराज-मञ्जीरप्रभृतीनां सौकुमार्यवैचित्र्यसंवलितपरि-स्पन्दीनि काव्यानि सम्भवन्ति। तत्र मध्यममार्गसंवलितं स्वरूपं विचारणीयम्। एवं सहजसौकुमार्यसुभगानि कालिदास-सर्वसेनादीनां काव्यानि दृश्यन्ते।

इस प्रकार मध्यम [मार्ग] की व्याख्या करके उसका ही [आगे] उपसंहार करते हैं। यहाँ इस [मध्यम मार्ग] में कोई अर्थात् कुछ लोग आदर-भाव रखते हैं अर्थात् उसका अवलम्बन करके काव्यों की रचना करते हैं। क्योंकि [वे] आरोचकी अर्थात् सुन्दर वस्तु के प्रेमी हैं। किस प्रकार के इस [मध्यम मार्ग] में—'छाया की विविधता से आह्लादक' अर्थात् [सुकुमार तथा विचित्र दोनों मार्गों की] नाना प्रकार की कान्ति की विचित्रता से हृदयों को प्रसन्न करने वाले [मध्यम मार्ग में]। कैसे—चातुर्यपूर्ण [सुन्दर] वेष-भूषा की रचना में रसिक नागरिकों के समान। ग्राम्य से भिन्न [सुन्दर] वेष की रचना में जैसे नगरनिवासी [आदरवान् होते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य के उपासक कुछ लोग इस मध्यम मार्ग को पसन्द करते हैं]। वह [विदग्ध नागरिकों का प्रिय विचित्र वेष] भी छाया की विचित्रता से ही मनोरञ्जक होता है।

इस प्रकार गुणों के उदाहरण थोड़े से [परिमित] होने से दिखला दिए गये है। परन्तु [उनमें भी और अन्यत्र भी] प्रत्येक पद की अलग-अलग सौन्दर्य की विचित्रता सहृदयों को स्वयं देख लेनी चाहिए। [उसके] अनुसरण करने का प्रकार [हम] दिखलाए देते हैं। जैसे मातृगुप्त, मायुराज, मञ्जीर आदि [नामक सुकवियों] के, सुकुमारता तथा विचित्रता युक्त स्वभाव से सुन्दर काव्य हो सकते हैं। [अर्थात् इन कवियों के काव्यों में मध्यम मार्ग की प्रधानता रहती है]। उसमें मध्यम मार्ग से युक्त अंश का विचार [खोज] कर लेना चाहिए। इसी प्रकार कालिदास, सर्वसेन आदि के काव्य सहज सौकुमार्य से युक्त होते हैं। उनमें सुकुमार मार्ग का

तत्र सुकुमार्गमार्गस्वरूपं चर्चनीयम् । तथैव च विचित्रवक्रत्वविजृम्भितं हर्षचरिते प्राचुर्येण भट्टबाणस्य विभाव्यते । भवभूति-राजशेखरविरचितेषु बन्धसौन्दर्यसुभगेषु मुक्तकेषु परिदृश्यते । तस्मात् सहृदयैः सर्वत्र सर्वमनुसर्तव्यम् । एवं मार्गत्रितयलक्षणं दिङ्मात्रमेव प्रदर्शितम् । न पुनः साकल्येन सत्कविकौशलप्रकाराणां केनचिदपि स्वरूपमभिधातुं पार्यते । मार्गेषु गुणानां समुदायधर्मता । यथा न केवलं शब्दादिधर्मत्वं तथा तल्लक्षणव्याख्यानासर एव प्रतिपादितम् ॥५२॥

एवं प्रत्येकं प्रतिनियतगुणग्रामरमणीयं मार्गत्रितयं व्याख्याय साधारणगुणस्वरूपव्याख्यानार्थमाह—

आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते ।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम् ॥५३॥

स्वरूप देख लेना चाहिए । और उसी प्रकार हर्षचरित में बाणभट्ट का विचित्र वक्रता का विलास प्राचुर्य से पाया जाता है । और भवभूति, राजशेखर के द्वारा निर्मित रचना के सौन्दर्य से युक्त, मुक्तकों में [वैचित्र्य का विलास] दिखलाई देता है । इसलिए सहृदयों को सब जगह [यथोचित रीति से] सबका अनुसन्धान करना चाहिए । इस प्रकार [यहाँ तक हमने] तीनों मार्गों के लक्षणों का दिङ्मात्र प्रदर्शन कराया है परन्तु सत्कवियों के कौशल के [अनन्त] प्रकारों का स्वरूप पूर्ण रूप से कोई भी नहीं दिखला सकता है । [सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम] तीनों मार्गों में [प्रसाद, माधुर्य, लावण्य, आभिजात्य आदि] गुणों का 'समुदाय-धर्मत्व' है । [अर्थात् माधुर्य आदि गुण तीनों मार्गों में समान रूप से पद-समुदाय में रहते हैं अलग-अलग शब्दों के धर्म नहीं होते हैं] केवल शब्द के धर्म [माधुर्य आदि गुण] जैसे नहीं होते हैं उसे उनके लक्षणों के व्याख्यान के अवसर पर ही प्रतिपादन किया जा चुका हैं ।५२।

वामन ने दश गुणों का तथा भामह आदि ने तीन ही गुणों का प्रतिपादन किया है । परन्तु कुन्तक ने तीनों मार्गों में माधुर्य प्रसाद, लावण्य और और आभिजात्य इन चार गुणों का यहां तक प्रतिपादन किया है । आगे औचित्य तथा सौभाग्य नामक दो गुणों का और वर्णन करते हैं । इस प्रकार कुन्तक के मत में छः गुण हो जाते हैं।

इस प्रकार अलग-अलग गुण समुदाय से रमणीय तीनों-मार्गों की व्याख्या करके साधारण गुण के स्वरूप का वर्णन करने के लिए कहते हैं—

उचित [स्वभावानुरूप] वर्णन ही जिसका प्राण है इस प्रकार के स्वभाव का महत्त्व, स्पष्ट रूप से [आञ्जसेन प्रकारेण] जिसके द्वारा परिपुष्ट किया जाता है वह 'औचित्य' [नामक गुण] है ।

तदौचित्यं नाम गुणः। कीदृक् आञ्जसेन सुस्पष्टेन स्वभावस्य पदार्थस्य महत्त्वमुत्कर्षो येन पोष्यते परिपोषं प्राप्यते। प्रकारेणेति—प्रस्तुतत्वादभिधावैचित्र्यमत्र 'प्रकार'-शब्देनोच्यते। कीदृशम्—उचिताख्यानमुदाराभिधानं जीवितं परमार्थो यस्य तत् तथोक्तम्। एतदानुगुण्येनैव विभूषणविन्यासो विच्छित्तिमावहति।

यथा—

करतलकलिताक्षमालयोः समुदितसाध्वससन्नहस्तयोः।
कृतरुचिरजटानिवेशयोरपर इवेश्वरयोः समागमः ॥११५॥[1]

यथा वा—

उपगिरि पुरुहूतस्यैष सेनानिवेश—
स्तटमपरमितोऽद्रेस्त्वद्बलान्यावसन्तु।
ध्रुवमिह करिणस्ते दुर्धराः सन्निकर्षे
सुरगजमदलेखासौरभं न क्षमन्ते ॥११६॥

वह औचित्य नामक गुण है। कैसा—'आञ्जस' अर्थात् सुस्पष्ट रूप से स्वभाव अर्थात् पदार्थ का महत्त्व, उत्कर्ष जिस [गुण] से पोषित किया जाता है अर्थात् पुष्टता को प्राप्त कराया जाता हैं। यहाँ प्रस्तुत होने के कारण, कहने की विचित्रता को ही 'प्रकार' शब्द से ग्रहण किया जाता है। कैसे—उचित कथन अर्थात् [स्वभावानुकूल] उदार वर्णन जिसका जीवित अर्थात् वास्तविक परमार्थ है वह उस प्रकार का [उचिताख्यानजीवितम् हुआ]। इसके अनुकूल ही अलङ्कारों की रचना शोभाजनक होती हैं। जैसे—

[यह श्लोक तापसवत्सराजचरित का ३, ८४ है]।

हाथों में जयमाला लिये हुए, साध्वस [भय या सात्विक भाव] के उत्पन्न हो जाने से जिनके हाथ सन्न [कार्याक्षम] हो गये हैं और जटाओं की सुन्दर रचना किए हुए [जटा बाँधे हुए] दोनों का, मानों दूसरे शिव-पार्वती-का-सा समागम हुआ ॥११५॥

अथवा जैसे—

पर्वत के समीप में [एक ओर] इन्द्र की सेना का पड़ाव है, [इसलिए] पर्वत की दूसरी ओर अपनी सेनाओं का पड़ाव डालो। क्योंकि समीप में रहने पर तुम्हारे [दुर्धर] भयङ्कर हाथी देवताओं [की सेना] के हाथियों की मद लेखा की गन्ध को सहन नहीं कर सकते हैं ॥११६॥

---

१. तापसवत्सराजचरित ३, ८४।

यथा च—

हे नागराज बहुधास्य नितम्बभागं
भोगेन गाढ़मभिवेष्टय मन्दराद्रेः ।
सोढ़ाऽविषह्यवृषवाहनयोगलीला-
पर्यङ्कबन्धनविधेस्तव कोऽतिभारः ॥११७॥[1]

अत्र पूर्वत्रोदाहरणयोर्भूषणगुणेनेव तद्गुणपरिपोषः, इतरत्र च स्वभावौदार्याभिधानेन ॥५३॥

औचित्यस्यैव छायान्तरेण स्वरूपमुन्मीलयति—

यत्र वक्तुःप्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना ।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते ॥५४॥

यत्र यस्मिन् वक्तुरभिधातुः प्रमातुर्वा श्रोतुर्वा स्वभावेन स्वपरिस्पन्देन वाच्यमभिधेयं वस्तु शोभातिशयशायिना रामणीयकमनोहरेण आच्छाद्यते संव्रियते तदप्यौचित्यमेवोच्यते । यथा—

और जैसे—

हे नागराज [शेषनाग] इस मन्दराचल के पार्श्वभाग को अपने [विस्तृत] फन से कसकर पकड़ लो । तुमने वृषवाहन शिव जी के योगाभ्यास के समय असह्य पर्यंकबन्धन विधि [आसनविशेष में बन्धन विधि] को सहन किया है तुम्हारे लिए इसमें कौन बड़ी कठिनाई है ॥११७॥

यहां [इन तीनों उदाहरणों में से] पहिले दो उदाहरणों में अलङ्कारों के गुण से ही उस औचित्य [रूप] गुण का परिपोष हो रहा है और तीसरे उदाहरण में स्वभाव के औदार्य कथन से [ही औचित्य का परिपोष हो रहा है] ॥५३॥

औचित्य [गुण] के ही स्वरूप को दूसरे प्रकार से स्पष्ट करते हैं—

जहाँ वक्ता अथवा बोद्धा [प्रमाता] के शोभातिशय-युक्त स्वभाव से वाच्य वस्तु आच्छादित हो [दब] जाती है वह भी 'औचित्य' कहलाता है ।

यहाँ जिस [गुण] में वक्ता अर्थात् कहने वाले और प्रमाता अर्थात् सुनने वाले [बोद्धा] के शोभातिशायी अर्थात् रमणीयता के कारण मनोहर स्वभाव से, वाच्य अर्थात् प्रतिपाद्य [वस्तु] अर्थ आच्छादित कर दिया अर्थात् ढँक दिया जाता है वह भी औचित्य [गुण] ही कहलाता है । जैसे—

---

१. काव्य मीमांसा पृ० ८८ तथा सरस्वती कण्ठाभरण पृ० ६५ पर उद्धृत ।

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः ।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः, स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥११८॥[1]

अत्र श्लाध्यतया तथाविधमहाराजपरिस्पन्दे वर्ण्यमाने मुनिना स्वानुभवसिद्धव्यवहारानुसारेणालङ्करणयोजनमौचित्यपरिपोषमावहति । अत्र वक्तुः स्वभावेन च वाच्यपरिस्पन्दः संवृतप्रायो लक्ष्यते । प्रमातुर्यथा—

निपीयमानस्तबका शिलीमुखैरशोकयष्टिश्चलबालपल्लवा ।
विडम्बयन्ती ददृशे वधूजनैरमन्ददष्टौष्ठकरावधूननम् ॥११६॥[2]

अत्र वधूजनैर्निजानुभव वासनानुसारेण तथाविधशोभाभिरामतानुभूतिरौचित्यपरिपोषमावहति ।

यह श्लोक रघुवंश के पञ्चम सर्ग का १५वाँ श्लोक है । 'वरतन्तु मुनि' के शिष्य 'कौत्स' विश्वजित् याग में सर्वस्व दान कर देने वाले रघु के पास भिक्षा लेने आए हैं । उस समय वह कौत्स-मुनि रघु से कह रहे हैं—

हे राजन्, सत्पात्रों को अपनी सम्पत्ति दान देकर अब शरीर मात्र से स्थित आप वनवासियों द्वारा [नीवार पर] उत्पन्न फल को ले लिये जाने के बाद ठूंठ मात्र शेष रहे नीवार के समान शोभित होते हैं ॥११६॥

यहाँ श्लाघ्य रूप से इस प्रकार के [लोकोत्तर प्रभावशाली] महाराज [रघु] के स्वभाव के वर्णनीय होने पर [वनवासी कौत्स] मुनि के अपने अनुभवसिद्ध ['आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः' इस उपमा] अलङ्कार की योजना, औचित्य को अत्यन्त परिपुष्ट करती है । यहाँ वक्ता [कौत्स मुनि] के स्वभाव से वाच्य अर्थ का स्वभाव ढँक-सा गया है ।

श्रोता [प्रमाता के स्वभाव से अर्थ के दब जाने] का [उदाहरण] जैसे—

भौंरों के द्वारा जिसके पुष्पगुच्छों का रस पान किया जा रहा है और जिसके छोटे-छोटे पल्लव हिल रहे हैं इस प्रकार की अशोक की लता को, वधू जनों ने ज़ोर से अधरोष्ठ में काट लेने मे हाथ हिलाने का अनुकरण करता हुआ-सा देखा ।११६।

यहाँ वधू जनों के अपने अनुभव अनुसार लताओं की उस प्रकार की शोभा की अभिरामता का वर्णन औचित्य का परिपोष कराता है ।

---

१. रघुवंश ५, १५ । २. किरातार्जुनीय ८, ६ ।

यथा वा—

वापितडे कुडुंगा पिअसहि हाउं गएहिं दीसंति ।
ण घरंति करेण भणंति ण त्ति बलिउं पुण णदेंति ॥१२०॥
[वापीतटे कुरङ्गा प्रियसखि हाऊं गायन्तो दृश्यन्ते ।
न ध्रियन्ते करेण भवान्ति नेति बहुलं पुनर्नयन्ति ॥इतिच्छाया]

अत्र कस्याश्चित्प्रमातृभूतायाः सातिशयमौग्ध्यपरिस्पन्दसुन्दरेण स्वभावेन वाच्यमाच्छादितमौचित्यपरिपोषमावहति ॥५४॥

एवमौचित्यमभिधाय सौभाग्यमभिधत्ते—

इत्युपादेयवर्गेऽस्मिन् यदर्थं प्रतिभा कवेः ।
सम्यक् संरभते तस्य गुणः सौभाग्यमुच्यते ॥५५॥

अथवा जैसे [यह प्राकृत गाथा बिल्कुल अस्पष्ट-सी है । इसलिए उसकी न संस्कृत छाया ही ठीक बनती है और न कुछ अर्थ ही । फिर भी उसका भाव इस प्रकार निकाला जा सकता है]—

हे प्रिय सखि वापी के किनारे [मेघरूप कुरङ्ग] हाऊ [?] गाते हुए दिखलाई देते हैं । हाथ से पकड़ने में नहीं आते हैं और न [पूछने पर स्पष्ट] बोलते हैं लेकिन जोर से गर्जन करते हैं ॥१२०॥

इसमें किसी [भोली-भाली ग्रामीण स्त्री रूप] प्रमाता रूप स्त्री के अत्यन्त भोलेपन के स्वभाव से सुन्दर स्वभाव से आच्छादित हुआ वाच्य [अर्थ], औचित्य का परिपोषक हो रहा है ॥५४॥

इसे यद्यपि वक्ता के वैशिष्ट्य का उदाहरण भी कहा जा सकता है । परन्तु यहाँ श्रोता को वैशिष्ट्य के प्रदर्शनार्थ दिया गया है अतः सुनने वाली स्त्री का भोलापन यहां औचित्य का पोषक है ।

इस प्रकार [प्रथम सामान्य गुण] 'औचित्य' का वर्णन करके अब [दूसरे सामान्य गुण] 'सौभाग्य' का प्रतिपादन करते हैं—

इस प्रकार इस [शब्दादि रूप] उपादेय वर्ग में कवि की प्रतिभा जिस [अर्थ के उपादान या ग्रहण करने] के लिए विशेष रूप से [अत्यन्त सावधानता से] प्रयत्नशील होती है उस वस्तु का जो [सौन्दर्य रूप] गुण है वह 'सौभाग्य' [नाम से सामान्य] गुण कहा जाता है ।५५।

इत्येवंविधेऽस्मिन्नुपादेयवर्गे शब्दाद्युपेयसमूहे यदर्थं यन्निमित्तं कवेः सम्बन्धिनी प्रतिभा शक्तिः सम्यक् सावधानतया संरभते व्यवस्यति तस्य वस्तुनः प्रस्तुतत्वात् काव्याभिधानस्य यो गुणः स सौभाग्यमुच्यते भण्यते ॥५५॥

तच्च न प्रतिभासंरम्भमात्रसाध्यं, किन्तु तद्विहितसमस्तसामग्रीसम्पाद्यमित्याह—

सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम् ।
अलौकिकचमत्कारकारि काव्यैकजीवितम् ॥५६॥

सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सर्वस्योपादेयराशेर्या सम्पत्तिरनवद्यताकाष्ठा तस्याः परिस्पन्दः स्फुरितत्वं तेन सम्पाद्यं निष्पादनीयम् । अन्यच्च कीदृशम्—सरसात्मनामार्द्रचेतसामलौकिकचमत्कारकारि लोकोत्तराह्लादविधायि । किम्बहुना, तच्च काव्यैकजीवितं काव्यस्य परः परमार्थ इत्यर्थः । यथा—

इस प्रकार के इस [पूर्वोक्त] उपादेय वर्ग अर्थात् शब्दादि रूप [उपेय] पदार्थ समूह में से, जिसके लिए अर्थात् जिसके कारण, कवि की अर्थात् कवि सम्बन्धिनी, प्रतिभा शक्ति भली प्रकार से अर्थात् सावधानतया प्रयत्न करती है उस वस्तु के प्रस्तुत होने से अर्थात् काव्य का विषय होने से जो [सौन्दर्य रूप] गुण है वह 'सौभाग्य' इस नाम से कहा जाता है ॥५५॥

और वह [सौभाग्य गुण] केवल प्रतिभा के व्यापारमात्र से साध्य नहीं है अपितु उस [कवि या काव्य] के लिए विहित समस्त सामग्री से सम्पादन करने योग्य है, यह [बात अगली कारिका में] कहते हैं—

[प्रतिभा के साथ-साथ व्युत्पत्ति वक्रोक्ति, गुण, मार्ग आदि काव्योचित] सम्पूर्ण सामग्री से सम्पादित करने योग्य सहृदयों के लिए अलौकिक चमत्कारकारी और काव्य का प्राण स्वरूप [सौभाग्य-गुण] है ।

[न केवल प्रतिभा-मात्र से अपितु काव्योचित व्युत्पत्ति आदि] सम्पूर्ण सामग्री के व्यापार से सम्पादन करने योग्य अर्थात् समस्त उपादेय राशि की जो सम्पत्ति अर्थात् अनवद्यता [सौन्दर्य] उसका जो परिस्पन्द या परिस्फुरण [व्यापार] उससे सम्पाद्य अर्थात् निष्पन्न करने योग्य । और कैसा कि सरस हृदय अर्थात् आर्द्र चित्त वालों [सहृदयों] के लिए अलौकिक चमत्कारकारी अर्थात् लोकोत्तर-आनन्द-दायक । अधिक क्या कहा जाय [संक्षेप में वह सौभाग्य-गुण] काव्य का प्राण अर्थात् परम तत्त्व है । यह अभिप्राय हुआ । जैसे—

दोर्मूलावधि सूत्रितस्तनमुरः स्निह्यत्कटाक्षे दृशौ
किञ्चित्ताण्डवपण्डिते स्मितसुधासिक्तोक्तिषु भ्रूलते ।
चेतः कन्दलितं स्मरव्यतिकरैर्लावण्यमङ्गैर्वृतं
तन्वङ्ग्यास्तरुणिम्नि सर्पति शनैरन्यैव काचिल्लिपिः ॥१२१॥

तन्व्याः प्रथमतरतारुण्येऽवतीर्णे आकारस्य चेतसश्चेष्टायाश्च वैचित्र्यमत्र वर्णितम् । तत्र सूत्रितस्तनमुरो लावण्यमङ्गैर्वृतमित्याकारस्य, स्मरव्यतिकरैः कन्दलितमिति चेतसः, स्निह्यत्कटाक्षे दृशाविति, किञ्चित्ताण्डवपण्डिते स्मितसुधासिक्तोक्तिषु भ्रूलते इति चेष्टायाश्च । सूत्रित-सिक्त ताण्डव-पण्डित-कन्दलितानामुपचारवक्रत्वं लक्ष्यते । स्निह्यदित्येतस्य कालविशेषावेदकः प्रत्ययवक्रभावः । अन्यैव काचिदवर्णनीयेति संवृतिवक्रताविच्छित्तिः । अंगैर्वृतमिति कारकवक्रत्वम् । विचित्रमार्गविषयो लावण्यगुणातिरेकः । तदेवमेतस्मिन्

[हेमचन्द्र ने पृ० ३०२ पर इस श्लोक को उद्धृत किया है ।]

तन्वङ्गी के शरीर में यौवन का पदार्पण होने पर उसकी रूप-रेखा धीरे-धीरे कुछ और ही होती जा रही है । जैसे कि उसकी छाती पर बग़ल तक स्तनों के उभार की रेखा पड़ गई है । आँखों में स्नेह युक्त कटाक्षों का प्रवेश हो गया है । स्मित रूप सुधा से सिक्त [अर्थात् मुस्कराते हुए] बात करते समय भौंहें नाचने में कुछ पण्डित-सी हो चली हैं, मन में काम के अंकुर-से उदय होने लगे हैं और शरीर के अङ्गों ने [नया] अपूर्व लावण्य ग्रहण कर लिया है । [इस प्रकार तन्वङ्गी के यौवन में आते ही धीरे-धीरे उसकी रूपरेखा कुछ और ही हो गई है] ॥१२१॥

तन्वी [नायिका] के यौवन के प्रथम अवतार के समय उसके आकार, मन, और चेष्टा [सब] का वैचित्र्य यहाँ वर्णित किया गया है । उनमें 'छाती पर स्तनों की रेखा [स्तनों का डोरा] पड़ गई है' और 'अङ्गों ने लावण्य धारण कर लिया है' इन [दो] से आकार का, 'काम के सम्पर्क के अंकुरित' इस से मन का, और स्नेहमय कटाक्ष से युक्त नेत्र, तथा 'स्मित रूप सुधा से सिक्त वचनों में नाचने में चतुर भौंहें' इससे चेष्टा के [वैचित्र्य का प्रतिपादन किया गया है] । सूत्रित, सिक्त, ताण्डव, पण्डित और कन्दलित [इन पदों] की 'उपचारवक्रता' प्रतीत होती है । 'स्निह्यत्' इससे काल विशेष के आवेदक [वर्तमान काल बोधक शतृ] 'प्रत्यय की वक्रता' [प्रतीत होती है] 'अन्यैव काचित्' से 'अवर्णनीया' इस अर्थ के द्वारा 'संवृति-वक्रता' का सौन्दर्य [द्योतित होता है], 'अङ्गों ने लावण्य का वरण कर लिया है' इसमें [तृतीया विभक्ति से करण

प्रतिभासंरम्भजनितसकलसामग्रीसमुन्मीलितं सरसहृदयाह्लादकारी किमपि सौभाग्यं समुद्भासते ॥५६॥

अनन्तरोक्तस्य गुणद्वयस्य विषयं दर्शयति—

एतत्त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम् ।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते ॥५७॥

एतद् गुणद्वितयमौचित्यसौभाग्याभिधानं, उज्ज्वलमतीव भ्राजिष्णु, पदवाक्यप्रबन्धानां त्रयाणामपि व्यापकत्वेन वर्तते सकलावयवव्याप्त्यावतिष्ठते । क्वेत्याह—त्रिष्वपि मार्गेषु सुकुमारविचित्रमध्यमाख्येषु । तत्र पदस्य तावदौचित्यं बहुविधभेदभिन्नो वक्रभावः । स्वभावस्याञ्जसेन प्रकारेण परिपोषणमेव वक्रतायाः परं रहस्यम् । उचिताभिधानजीवितत्वाद् वाक्यस्याप्येकदेशेऽप्यौचित्यविरहात् तद्विदाह्लादकारित्वहानिः ।

कारक रूप] 'कारकवक्रता' [लक्षित होती है] । और विचित्र मार्ग के विषय भूत लावण्य गुण का अतिरेक [इस श्लोक में पाया जाता] है । इस प्रकार इस [श्लोक] में प्रतिभा के संरम्भ से उत्पन्न समस्त सामग्री से उन्मीलित सहृदयहृदयाह्लादकारी कुछ अनिर्वचनीय 'सौभाग्य' प्रकाशित हो रहा है ॥५६॥

अभी कहे हुए [औचित्य तथा सौभाग्य रूप] दोनों गुणों का विषय दिखलाते हैं—

[सुकुमार, विचित्र और मध्यम रूप] इन तीनों मार्गों में [औचित्य तथा सौभाग्य रूप] दोनों गुण, पदों, वाक्यों तथा रचना में व्यापक और उज्ज्वल रूप से रहते हैं ॥५७॥

यह औचित्य तथा सौभाग्य नामक दोनों गुण उज्ज्वल अर्थात् अत्यन्त स्पष्ट चमकते हुए, पद, वाक्य और प्रबन्ध तीनों में व्यापक रूप से विद्यमान रहते हैं । अर्थात् [काव्य के] सारे अवयवों में व्याप्त रहते हैं । कहाँ [रहते हैं] यह कहते हैं । सुकुमार, विचित्र और मध्यम नामक तीनों ही मार्गों में । उनमें से पदों का औचित्य उनका नाना प्रकार के भेदों से युक्त वक्रभाव है । स्वभाव का स्पष्ट रूप से [आञ्जसेन प्रकारेण] परिपोषण ही वक्रता का परम रहस्य है । [क्योंकि पदार्थ का उचित रूप से] कथन के ही [वक्रता के] जीवन-स्वरूप होने के कारण वाक्य के एक देश में भी औचित्य का अभाव होने से सहृदयों के आह्लादकारित्व की हानि होती है ।

यथा रघुवंशे—

पुरं निषादाधिपतेस्तदेद् यस्मिन् मया मौलिमणिं विहाय ।
जटासु बद्धास्वरुदत् सुमन्त्रः कैकेयि कामाः फलितास्तवेति ॥१२२॥[1]

अत्र रघुपतेरनर्घमहापुरुषसम्पदुपेतत्वेन वर्ण्यमानस्य 'कैकेयि कामाः फलितास्तव' इत्येवंविधतुच्छतरपदार्थसंस्मरणं तदभिधानं चात्यन्तमनौचित्यमावहति ।

प्रबन्धस्यापि कस्यचित् प्रकरणैकदेशेऽप्यौचित्यविरहादेकदेशदाहदूषितदग्धपटप्रायता प्रसज्यते । यथा रघुवंशे एव दिलीपसिंहसंवादावसरे—

अथैकधेनोरपराधचण्डाद्
गुरोः कृशानुप्रतिमाद् बिभेषि ।

जैसे रघुवंश में—

रघुवंश के १३वें सर्ग में लङ्का-विजय के बाद पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या को लौटते समय रामचन्द्र जी रास्ते के भिन्न-भिन्न स्थानों को सीता जी को दिखलाते जाते हैं । उसी प्रसङ्ग से जब निषादराज के स्थान पर आकर रामचन्द्र जी पहुँचे तो उस स्थान का परिचय कराते हुए सीता जी से कह रहे हैं कि—

यह निषादराज [गुह] की वह नगरी है जहाँ शिर पर मणियों को उतार कर मेरे जटाएँ बाँध लेने पर सुमंत्र ने 'हे कैकेयि! लो तुम्हारा मनोरथ सफल हो गया' यह कहा था ॥१२२॥

यहाँ महापुरुषों [के चरित्र] की [समस्त] सम्पत्ति से युक्त रूप में रघुपति [रामचन्द्र जी] के वर्ण्यमान होने के कारण उन रामचन्द्र के मुख से 'कैकेयी! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो गया' इस प्रकार की तुच्छ बात का स्मरण और कथन अत्यन्त अनुचित प्रतीत होता है ।

कहीं-कहीं प्रबन्ध [काव्य] के किसी प्रकरण के एक देश में भी औचित्य का अभाव होने पर, एक देश में जल जाने के कारण [सम्पूर्ण रूप से] दूषित वस्त्र के समान [सारा काव्य भी] दूषित हो जाता है । जैसे रघुवंश में [तृतीय सर्ग में] रघु तथा दिलीप के संवाद के अवसर पर—

और यदि एक गाय के [विनाश करा देने रूप] अपराध के कारण भयङ्कर [रूप से रुष्ट हुए] अग्नि के समान [उग्र] रूप धारण किए हुए गुरु से भय लगता

---

१. रघुवंश १३, ५९ ।

शक्योऽस्य मन्युर्भवतापि जेतुं[1]
गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोघ्नीः ॥१२३॥

इति सिंहस्याभिधातुमुचितमेव राजोपहासपरत्वेनाभिधीयमानत्वात्। राज्ञः पुनरस्य निजयशःपरिरक्षणपरत्वेन तृणवल्लघुवृत्तयः प्राणाः प्रतिभासन्ते। तस्यैतत्पूर्वपक्षोत्तरत्वेन—

कथञ्च शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम्।
इमां तनूजां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयाऽस्याम् ॥१२४॥[2]

इत्यन्यासां गवां तत्प्रतिवस्तुप्रदानयोग्यता यदि कदाचित् सम्भवति ततस्तस्य मुनेर्मम चोभयोरप्येतज्जीवितपरिरक्षणनैरपेक्ष्यमुपपन्नमिति तात्पर्य-पर्यवसानादत्यन्तमनौचित्ययुक्तेयमुक्तिः ।

हो तो तुम [उस एक गाय के बदले में] घड़े के समान अयन वाली करोड़ों गौएँ देकर उनके क्रोध को दूर कर सकते हो ॥१२३॥

यह सिंह का कथन तो उचित ही है । क्योंकि वह राजा का उपहास करने के लिए कहा गया है। परन्तु इस राजा दिलीप को अपने यश की रक्षा में तत्पर होने से प्राण तिनके के समान प्रतीत होते हैं। उसकी ओर से [सिंह के द्वारा किए गए] इस पूर्वपक्ष के उत्तर रूप में [कहे गए]—

अन्य गौओं के देने से महर्षि वशिष्ठ के क्रोध को दूर करना कैसे सम्भव हो सकता है। क्योंकि इस [नन्दिनी गौ] को कामधेनु की पुत्री समझो । तुमने जो इस पर प्रहार किया है वह तो शिव के प्रभाव से किया है [अपनी सामर्थ्य से तुम इस पर प्रहार नहीं कर सकते थे] ॥१२४॥

इस [उत्तर रूप में कहे गए श्लोक] में, यदि अन्य गौओं को उसके बदले में दिए जाने योग्य [प्रतिवस्तु] समझ लिया जाय तो कदाचित् उन [वशिष्ठ] मुनि तथा मेरे दोनों के लिए उसके प्राणों की रक्षा की उपेक्षा करना उचित हो सकता है · यह [जो इस कथन का] फलितार्थ निकलता है। उसके कारण यह कथन अत्यन्त अनुचित प्रतीत होता है।

अर्थात् यदि इसके बदले में अन्य गाय देकर मुनि की क्षति पूर्ति यदि की जा सकती तो मैं इस गाय की प्राणों की रक्षा के लिए प्रयत्न न करता। राजा दलीप के मन में इस प्रकार के भाव का आना भी बड़ा भद्दा और उनके गौरव के प्रतिकूल है। जो राजा एक बार तो यह कहता है कि—

---

१. रघुवंश २, ४९। २. 'विनेतु' पाठ भी पाया जाता है।

यथा च कुमारसम्भवे त्रैलोक्याक्रान्तिप्रवणपराक्रमस्य तारकाख्यस्य रिपोर्जिगीषावसरे सुरपतिर्मन्मथेनाभिधीयते—

कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम् ।
नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम् ॥१२५॥[1]

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः ।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥

अर्थात् इस भौतिक शरीर में मेरी आस्था नहीं है । इस भौतिक शरीर की अपेक्षा मुझे 'यशः-शरीर' अधिक प्रिय है । उसी महापुरुष के मुख से यह कहलाना कि यदि दूसरी गाय देकर मुनि को सन्तुष्ट किया जा सके तो मैं इसे बचाने का प्रयत्न न करता, वस्तुतः शोभा नहीं देता है । इस प्रकार इस एक देश में औचित्य का अभाव हो जाने से एक देश में जल जाने के कारण दूषित हुए पट के समान इस काव्य में यह सारा प्रकरण दूषित हो जाता है ।

और जैसे 'कुमारसम्भव' में त्रैलोक्य का पराभव करने में समर्थ, पराक्रमशील तारकासुर रूप शत्रु के जीतने के [उपाय सोचने के] अवसर पर कामदेव इन्द्र से कह रहा है—

सुन्दरता के कारण तुम्हारे चञ्चल मन में प्रविष्ट हुई परन्तु पतिव्रत धम के कारण तुम्हारे वश में न आ सकने वाली कौन सी पतिव्रता स्त्री को चाहते हो कि वह लज्जा का परित्याग करके स्वयं तुम्हारे कण्ठ में अपने बाहु डाल दे ॥१२५॥

कुमारसम्भव की कथा में तारकासुर के अत्याचारों से पीड़ित होकर देवता लोग ब्रह्मा जी के पास गए हैं । उनकी कष्टगाथा सुनने के बाद ब्रह्मा जी ने उनको बतलाया कि शिव जी का पुत्र तुम्हारा सेनापति बनकर उसको मारेगा । इसलिए तुम लोग पार्वती के द्वारा शिव को आकृष्ट करो । जिससे पार्वती और शिव का पुत्र तुम्हारे इस कष्ट को दूर कर सके । इस प्रसङ्ग में शिव को पार्वती की ओर आकृष्ट करने के लिए इन्द्र ने कामदेव को बुलवाया है । कामदेव ने इन्द्र को राज-सभा में उपस्थित होकर बुलाए जाने का कारण पूछा कि हे महाराज ! मुझे किस लिए स्मरण किया है ? उसी प्रसङ्ग का यह श्लोक है । इसका भाव यह हुआ कि यदि आप किसी पतिव्रता सुन्दरी पर अनुरक्त हो गए हैं । और पतिव्रता होने के कारण आपका उसके साथ सम्बन्ध आपको सम्भव प्रतीत न होता हो तो उसका नाम मुझे बतलाइए । मैं अपने प्रभाव से उसको इतना विवश कर दूंगा कि वह

---

१. कुमारसम्भव ३, ७ ।

इत्यविनयानुष्ठाननिष्ठं त्रिविष्टाधिपत्यप्रतिष्ठितस्यापि तथाविधाभिप्रायानुवर्तनपरत्वेनाभिधीयमानमनौचित्यमावहति ।

एतच्चतस्यैव कवेः सहजसौकुमार्यमुद्रितसूक्तिपरिस्पन्दसौन्दर्यस्य पर्यालोच्यते, न पुनरन्येषां आहार्यमात्रकाव्यकरणकौशलश्लाघिनाम् ।

सौभाग्यमपि पदवाक्यप्रकरणप्रबन्धानां प्रत्येकमनेकाकारकमनीयकारणकलापकलितरामणीयकानां किमपि सहृदयहृदयसंवेद्यं काव्यैकजीवितमलौकिकचमत्कारकारि संवलितानेकरसास्वादसुन्दरं सकलावयवव्यापकत्वेन काव्यस्य गुणान्तरं परिस्फुरतीत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥५७॥

इदानीमेतदुपसंहृत्यान्यदवतारयति—

अपने पातिव्रत्य और लज्जा आदि सबका परित्याग करके स्वयं आकर तुम्हारे गले में हाथ डालकर तुम्हारा आलिङ्गन करने लगेगी ।

[परन्तु] स्वर्ग के अधिपति पद पर प्रतिष्ठित [इन्द्र] का [कामदेव के कहे हुए] उस प्रकार के अभिप्राय को पूर्ण करने के द्वारा सूचित इस प्रकार का [किसी पतिव्रता के, पातिव्रत्य को नष्ट करने रूप] अविनय आचरणपरक कथन [इन्द्र जैसे देवराज के लिए] अत्यन्त अनुचित प्रतीत होता है । [इसलिए कुमारसम्भव का यह अंश भी 'एकदेशदाहदूषित पट' के समान दूषित हो गया है] ।

और यह भी इसी [महा] कवि [कालिदास] के विषय में [इतनी सूक्ष्म] आलोचना की जा सकती है जिसकी सूक्तियों का स्वाभाविक सौन्दर्य सहज सौकुमार्य की मुद्रा से अङ्कित हो रहा है । केवल आहार्य [व्युत्पत्ति बल से बनावटी] काव्य-रचना के कौशल के लिए प्रसिद्ध [श्री हर्ष आदि] अन्य [कवियों] के विषय में [इतनी सूक्ष्म आलोचना] नहीं [की जा सकती है] ।

और पद, वाक्य, प्रकरण तथा प्रबन्धों का सौभाग्य [गुण] भी [उनमें से] प्रत्येक की अनेक प्रकार की [अलग-अलग] सुन्दर कारण सामग्री [लोकोत्तर] से रमणीयता को धारण करने वाले काव्य का एकमात्र प्राणस्वरूप अलौकिक, चमत्कारकारी, सहृदयसंवेद्य [उस काव्य में] आए हुए अनेक रसों के आस्वाद से सुन्दर और सारे अवयवों में व्यापक रूप से काव्य का कुछ और ही गुण [सा] परिस्फुरित होता है । इसलिए [इस विषय में अब और] अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं हैं ।

अब इस [मार्गों के गुणों के निरूपण] का उपसंहार कर [अगले द्वितीय उन्मेष में कहे जाने वाले वर्ण-विन्यास आदि की वक्रता रूप] अन्य [विषय] की अवतारणा करते हैं—

मार्गाणां त्रितयं तदेतदसकृत् प्राप्तव्यपर्युत्सुकैः
क्षुण्णं कैरपि यत्र कामपि भुवं प्राप्य प्रसिद्धिं गताः ।
सर्वे स्वैरविहारहारिकवयो यास्यन्ति येनाधुना
तस्मिन् कोऽपि स साधु सुन्दरपदन्यासक्रमः कथ्यते ॥५८॥

मार्गाणां सुकुमारादीनामेतत् त्रितयं कैरपि महाकविभिरेव न सामान्यैः, प्राप्तव्यपर्युत्सुकैः प्राप्योत्कण्ठितैरसकृत् बहुवारमभ्यासेन क्षुण्णं परिगमितम् । यत्र यस्मिन् मार्गत्रये कामपि भुवं प्राप्य प्रसिद्धिं गताः । लोकोत्तरां भूमिमासाद्य प्रतीतिं प्राप्ताः । इदानीं सर्वे स्वैरविहारहारिणः स्वेच्छाविहरणरमणीयाः कवयस्तस्मिन् मार्गत्रितये येन यास्यन्ति गमिष्यन्ति सकोऽपि अलौकिकः सुन्दरपदन्यासक्रमः साधु शोभनं कृत्वा कथ्यते । सुभग-सुप्-तिङ्-समर्पणपरिपाटीविन्यासो वर्ण्यते । मार्ग-स्वैरविहार-पद प्रभृतयः शब्दाः श्लेषच्छायाविशिष्टत्वेन व्याख्येयाः ॥५८॥

इति श्रीराजानककुन्तकविरचिते वक्रोक्तिजीविते काव्यालङ्कारे प्रथम उन्मेषः ।

प्राप्तव्य [महाकवित्व पद] के लिए उत्सुक कुछ [विशेष महाकवियों] के द्वारा चला गया यह [सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम रूप] तीनों मार्गों का समूह है । जिसमें किसी उच्च स्थिति को प्राप्त कर [वह कालिदास आदि महाकवि] प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं । स्वच्छन्द विहरण के करने वाले सभी उत्तम कविगण अब [भविष्य में] जिस पर चलेंगे उस [मार्ग-त्रितय] में [उपादेय] उस अनिर्वचनीय साधु तथा सुन्दर पदों की रचना का क्रम [आगे द्वितीय उन्मेष में] कहते हैं ॥५८॥

सुकुमार आदि मार्गों का यह त्रितय किन्हीं महाकवियों के द्वारा ही सामान्यों के द्वारा नहीं, प्राप्तव्य [महाकवित्व आदि] के लिए उत्कण्ठितों के द्वारा क्षुण्ण [रौंधा हुआ] चला हुआ है । जहाँ जिस मार्ग-त्रितय में कुछ लोकोत्तर स्थिति प्राप्त करके [वे महाकवि] प्रसिद्धि को प्राप्त हुए । और अब स्वच्छन्द विहार के कारण रमणीय उन तीनों मार्गों में जिस [सुन्दर क्रम] से सारे कवि चलेंगे, वह अलौकिक कोई सुन्दर पदों की रचना का क्रम साधु, सुन्दर रूप से, कहते हैं । अर्थात् सुन्दर सुबन्त तिङन्त [रूप पदों] के समर्पण की शैली का वर्णन करते हैं । [यहाँ] 'मार्ग', 'स्वैरविहार' आदि पद शब्द श्लेष की छाया से युक्त हैं इस प्रकार व्याख्या करना चाहिए ।

इति श्री राजानक कुन्तक विरचित वक्रोक्तिजीवित नामक 'काव्यालङ्कार' (ग्रन्थ) में प्रथम उन्मेष समाप्त हुआ ।

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां वक्रोक्तिदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां प्रथमोन्मेषः समाप्तः ।